UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180894

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—23—4-4-69—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H82 B5YN Accession No. P.G H3106

Author भटनागर, महेन्द्र

Title नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी और

This book should be returned on or before the date last marked below. सेवत प्रवर्तन।

नाटककार हरिकृष्ण 'प्रेमी'

और 'संवत् प्रवर्त्तन'

लेखक

डा० महेन्द्र भटनागर

एम० ए०, पी-एच० डी०

कैलाश पुस्तक सदन

प्रकाशक
कैलाश पुस्तक सदन
हमीदिया रोड, भोपाल
पाटनकर बाजार, लश्कर, (ग्वालियर)

मूल्य : तीन रुपये

सर्वाधिकारी लेखक

मुद्रक
लोक कला प्रिंटिंग प्रेस,
ग्वालियर (म० प्र०)

प्रस्तावना

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' के नाटक पर डा० महेन्द्र भटनागर द्वारा लिखे गये भाष्य पर किसी प्रस्तावना की आवश्यकता नहीं है। डा० महेन्द्र इसके साथ मेरा नाम भी जोड़ देना चाहते हैं; यह उनका अनुग्रह मात्र है। छात्रोपयोगी दृष्टिकोण से लिखी गई इस समीक्षा में शास्त्रीपयोगी सामग्री का भी पर्याप्त सम्मिश्रण है, और वह प्रेमी जी तथा उनकी कृति को समझने-समझाने में पूर्णतः उपयोगी होगी इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है।

प्रेमी जी मूलतः कवि हैं। अभिनय और उसके आनुषंगिक आडम्बरों से परिवेष्टित होते हुए भी नाटक अथवा रूपक भी मूलतः कविता ही है। भारतीय काव्य यथार्थ को पकड़ कर नहीं चलता; भारतीय रूपक भी उसका अनुगामी है। इतिहास और रूपक का समन्वय कठिन होते हुए भी असाध्य नहीं है। यह मुद्राराक्षस, मालविकाग्निमित्र तथा रत्नावली के रचयिता सिद्ध कर चुके हैं। परन्तु वे सम-सामयिक अथवा निकटभूत की जानी-बूझी कथावस्तु पर आधारित थे, भले ही आज वे अति प्राचीन घटनाओं से सम्बद्ध ज्ञात होते हैं। महाकवि प्रसाद ने इतिहास के धूमिल अतीत से कथावस्तु बटोर कर नाटक सृजन की जो परम्परा डाली उनके अनुगमन में अनेक नाटक लिखे गये, श्रेष्ठ भी और निकृष्ट भी।

प्रसाद जी के कथानक अति प्राचीन रहे, तत्कालीन देशकाल का आभास भी उनमें है परन्तु उनका स्वर वर्तमान से ओतप्रोत है। प्रेमी जी भी इस दिशा में प्रसाद जी के समान हैं। उनके ऐतिहासिक नाटकों में उनके कथानकों,

घटनाओं और विचार धाराओं की व्याख्या वर्तमान समस्याओं के दृष्टिकोण से की गई है। मुझे तो यह उचित भी लगता है। प्राचीन इतिहास की खोजबीन का सबसे बड़ा उपयोग यही है कि हम अपने राष्ट्रीय चरित्र को समझें और उसकी कमजोरियों को मिटाने के लिए तथा उसकी शक्ति को और अधिक सुपुष्ट करने के लिए कृत संकल्प हों, जिससे अतीत की खाइयों में राष्ट्र फिर न गिरे और उसके अधिकाधिक गौरव-पूर्ण भविष्य की सम्भावनाएँ बढ़ सकें। इतिहास स्वयं साध्य नहीं है; वह साधन मात्र है। प्रेमी, मिलिन्द और उनके भी पूर्व प्रसाद, द्विजेन्द्रलाल राय आदि ने इतिहास का उपयोग इसी साधन के रूप में किया है।

प्रेमी जी अथवा अन्य किसी नाटककार की नाटककार के रूप में श्रेष्ठता का अंकन करने का मैं अधिकारी नहीं हूँ। काव्य-शास्त्र पढ़ने-पढ़ाने का मुझे अवकाश कम मिलता है। सम्भव है, डा० महेन्द्र का मत ठीक हो, सम्भव है, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं प्रो० जगन्नाथ नलिन का मत ठीक हो; साधारण भावक की दृष्टि से मैं तो केवल यह कह सकता हूँ कि प्रेमी जी के नाटक पढ़ने में (उनका अभिनय देखने का सौभाग्य मुझे नहीं मिला) मुझे आनन्द प्राप्त होता है। इतिहास की कसौटी पर 'संवत् प्रवर्त्तन' को मैं कसना नहीं चाहता। विक्रमादित्य पर मैंने भी बहुत लिखा है और लिखाया है। उसका उपयोग श्री प्रेमी और डा० महेन्द्र दोनों ने ही किया है, यह संतोष की बात है। इस विषय में केवल एक बात अवश्य कहना है। भर्तृहरि को गणनायक बनाकर प्रेमी जी ने इतिहास की रक्षा नहीं की है, कवि को नेता (या राजा) बनाने की अपनी कवि-कल्पना को साकार मात्र किया है। राजनैतिक मंचों पर कवि आरूढ़ नहीं किये जाते, यदि कभी हो भी गये हैं तो परिणाम अनर्थकारी हुए हैं—इतिहास साक्षी है। परन्तु वे मानव-हृदय पर शासन करते रहे हैं—करते रहेंगे, उनके लिये क्या यही गौरव पर्याप्त नहीं है?

डा० महेन्द्र भटनागर की यह समीक्षा श्री हरिकृष्ण प्रेमी के नाट्य-साहित्य के अध्ययन के लिए मार्ग प्रशस्त करेगी, ऐसा विश्वास है।

—हरिहर निवास द्विवेदी

वक्तव्य

'संवत् प्रवर्त्तन' श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' जी का अभी तक के प्रकाशित नाटकों में अंतिम नाटक है। आज जब 'प्रेमी' जी हिन्दी-साहित्य में प्रतिष्ठित हो चुके हैं; उनकी सद्यः प्रकाशित नई रचना के प्रति पाठकों का आकर्षण स्वाभाविक है। 'संवत् प्रवर्त्तन' को पढने की मेरी इच्छा बहुत कुछ इस कारण जागरित हुई। इस ओर आकर्षित होने का एक कारण यह भी था कि संवत् प्रवर्त्तन की घटना को ही लक्ष्य करके मैंने एक एकांकी-नाटक 'गणनायक विक्रम' सन् १९४५ में लिखा था; जिसका उल्लेख प्रस्तुत समीक्षा-पुस्तक में यथास्थान किया गया है। प्रस्तुत शास्त्रीय-समीक्षा छात्रोपयोगी दृष्टिकोण से लिखी गई है; यद्यपि इस सीमा का यत्र-तत्र अतिक्रमण भी हुआ है। पर, उच्च कक्षाओं के, साहित्यिक अभिरुचि सम्पन्न जागरूक छात्रों के लिए यह अतिक्रमण लाभदायक ही सिद्ध होगा। मैंने प्रस्तुत समीक्षा को एकांगी होने से बचाया है। आलोच्य नाट्य-कृति की तटस्थ और निष्पक्ष आलोचना करने का प्रयत्न किया है। दोषों और विशेषताओं की ओर बिना किसी पूर्वाग्रह के निर्देश किया है। आशा है, साहित्य के अध्येताओं को प्रस्तुत समीक्षा चिंतन के अनेक बिन्दु प्रदान करेगी।

प्रस्तुत पुस्तक में, कुछ विद्वानों की स्थापनाओं को, अविकल रूप में, उनके नामोल्लेख के साथ, उद्धृत किया गया है। उनके विचारों को अपना बनाकर, अपनी भाषा में, प्रस्तुत करने की चतुराई मैंने नहीं बरती है। जो हो, संबंधित विद्वान् मित्रों का मैं हृदय से आभारी हूँ। हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक एवं विक्रम-युग के विशेषज्ञ आचार्य हरिहर निवास द्विवेदी जी के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ; जिन्होंने प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका लिखकर उसकी उपादेयता बढ़ाई है।

गोपाल भवन,
जीवाजीगंज,
लश्कर (ग्वालियर) म० प्र०

—महेन्द्र भटनागर

• अनुक्रम

अध्याय			
१.	नाट्य-कला	...	१
२.	हिन्दी-नाटक	...	१६
३.	नाटककार हरिकृष्ण 'प्रेमी'	...	२४
४.	अनुश्रुति और इतिहास	...	३१
५.	'गणनायक विक्रम' और 'संवत् प्रवर्त्तन'	...	४६
६.	'संवत् प्रवर्त्तन' : वस्तु-विन्यास	...	५२
७.	'संवत् प्रवर्त्तन' पात्र एवं चरित्र-चित्रण	...	६६
८.	संवत् प्रवर्त्तन' : अन्य तत्त्व	...	६७
	(क) गीत		६७
	(ख) संवाद		१००
	(ग) भाषा		१०३
	(घ) देशकाल		१०७
	(ङ) अभिनेयत्व		१०६
	(च) रस		१११
	(छ) उद्देश्य		११२

नाट्य-कला

काव्य (साहित्य) के दो विभाग किये गये हैं—दृश्य और श्रव्य। श्रव्य काव्य के अन्तर्गत पद्य (प्रबन्ध और मुक्तक), गद्य (उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि) और मिश्र (चम्पू) का समावेश है। दृश्य-काव्य में रूपक अथवा नाटक आते हैं।

रूप के आरोप के कारण नाटकों को रूपक कहा जाता है। नाटक रूपक का ही पर्याय है। नाटक अथवा रूपक में अभिनयेत्व प्रमुख है। नट का अर्थ है—अभिनेता। अतः जिस रचना में नट अर्थात् अभिनेता हो उसे नाटक कहा जाता है। नाटक का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। अन्य काव्य रूपों की तुलना में इसमें सामाजिकता अधिक है। जन साधारण तक नाटकों की पहुँच है। इसलिये इसे 'पंचम वेद' कहा गया है। नाटकों के द्वारा जनता का मनोरंजन ही नहीं उसका हित सम्पादन भी होता है। नाटक में अनेक कलाओं (संगीत, नृत्य, काव्य, चित्रकला, स्थापत्य आदि) और शास्त्रों (इतिहास, समाज-शास्त्र आदि) का समावेश है। नाट्याचार्य भरत मुनि ने जैसे लिखा है—'योग, कर्म, सारे शास्त्र, सारे शिल्प और विविध कार्यों में कोई ऐसा नहीं है जो नाटक में न पाया जाय।'[1] इसके अतिरिक्त नाटक में सजीवता रहती है, जो उसके प्रभाव को बढ़ा देती है। नाटकों में अभिनयेत्व की प्रधानता रहती अवश्य है, पर अभिनयेत्व के अभाव में भी नाटकों का साहित्य के इस विभाग में अस्तित्व है। ऐसे नाटकों को पाठ्य-नाटक या कक्ष नाटक (Closet Drama) कहा जाता है। पाठ्य-नाटक रंगमंच के

---

१. न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽ स्मिन् यन्नदृश्यते।
सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विवधानि च॥

—नाट्यशास्त्र (१।११४)

सर्वथा अनुपयुक्त होते हैं। उन्हें अभिनय की शैली में उपन्यास कहना ही उचित है। रंगमंच के नाटकों में अभिनय कला का कौशल महत्वपूर्ण स्थान रखता है। नाटकों की उत्पत्ति के मूल में अनुकरण वृत्ति प्रमुख है, जो मनुष्य की एक स्वाभाविक मानसिक प्रवृत्ति है।

नाटक के प्रमुख तत्व चार हैं—उद्देश्य, कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, और अभिनय। नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन इन्हीं तत्वों के आधार पर किया जाता है। नाट्य-कला इन्हीं तत्वों में अपना आकार ग्रहण करती हैं।

संस्कृत साहित्य में दो प्रकार की नाट्य विधाएँ वर्णित हैं—रूपक और उपरूपक। साधारणतया रूपक के दस भेद हैं:—

(१) नाटक—कथावस्तु का चयन इतिहास से, पाँच अंकों से दस अंकों तक का विस्तार, नायक धीरोदात्त, रस की प्रधानता (वीर या शृंगार)।

(२) प्रकरण—कथावस्तु कल्पित, नायक मंत्री, ब्राह्मण, या वैश्य—पर प्रकृति धर्मप्रिय हो। नायिकाएँ—कुलवधू और वेश्या।

(३) भाण—विट् (कला पारंगत व्यक्ति) द्वारा धूर्त चरित्र का वर्णन, एक ही अंक और एक ही पात्र।

(४) डिम—प्रसिद्ध इतिवृत्त, चार अंक, सोलह उद्धत पात्र, शृंगार और हास्य वर्जित।

(५) वीथी—पात्र दो से अधिक नहीं, एक अंक, कल्पित विषय, शृंगार रस का पूर्ण परिपाक नहीं; उसकी सूचना दी जाती है।

(६) समवकार—इतिवृत्त पौराणिक; देवताओं तथा राक्षसों से सम्बन्धित। बारह नायक; जिन्हें पृथक् फल-प्राप्ति। केवल तीन अंक।

(७) व्यायोग—प्रख्यात इतिवृत्त, नायक धीरोदात्त (दैवी पुरुष या राजा), एकांकी रूपक, केवल एक दिन की घटनाएँ वर्णित-चित्रित, नायिकाएँ नहीं होतीं—मात्र एक दो दासियों का समावेश।

(८) अंक—प्रख्यात कथावस्तु; पर कल्पना का आश्रय भी, एक ही अंक, करुण रस प्रधान। नायक साधारण व्यक्ति, अनेक स्त्री पात्रों की योजना।

(९) ईहामृग—कथावस्तु प्रख्यात और कल्पित, इतिहास प्रसिद्ध नायक (धीरोदात्त) और प्रतिनायक दोनों की योजना, चार अंक और तीन संधियाँ। और

(१०) प्रहसन—हास्य रस की प्रधानता, एक ही अंक।

उपरूपकों की संख्या अठारह है—नाटिका (नाटी), त्रोटक (तोटक), गोष्ठी, सट्टक, नाट्य-रासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका (विनायिका), दुर्मल्लिका, प्रकरिणका, हल्लीश, और भाणिका।

वर्तमान युग में उपर्युक्त रूपकों और उपरूपकों का प्रयोग नहीं होता। आधुनिक नाटककारों की नाट्य कृतियों का नामकरण अथवा विभाजन इन विधाओं में सम्भव नहीं है। प्राचीन शास्त्रीय नियमों को आधार मानकर आजकल नाटक नहीं लिखे जाते अतः उनका विभाजन प्राचीन नाट्य शिल्प की दृष्टि से न कर विषय के आधार पर किया जाता है यथा—ऐतिहासिक, सामाजिक, पौराणिक, मनोवैज्ञानिक, राष्ट्रीय, समस्यामूलक आदि। नाटककार के उद्देश्यानुसार दुःखान्त, सुखान्त, यथार्थवादी, आदर्शवादी आदि भेद होते हैं। नाट्य शिल्प की दृष्टि से नाटक, एकांकी नाटक, गीत-नाट्य, संगीत रूपक (भाव प्रधान), रेडियो नाटक (ध्वनि नाटक) फीचर आदि आधुनिक भेद, लोकप्रिय और प्रचलित हैं।

नाटक के तत्त्व

(१) उद्देश्य

प्रत्येक साहित्यिक रचना सोद्देश्य होती है। उसमें लेखक का मन्तव्य निहित रहता है। यह उद्देश्य जितने अप्रत्यक्ष रूप से कृति में

समाविष्ट किया जायगा; उतनी ही श्रेष्ठ कला के उसमें दर्शन होंगे। नाटकों में तो यह बात और भी महत्वपूर्ण है; क्योंकि यहाँ लेखक अपने जो भी विचार व्यक्त करेगा; वे सब पात्रों के संवादों के माध्यम से ही कर सकेगा। यदि नाटककार का उद्देश्य जीवन अथवा किसी अन्य वस्तु के प्रति अपने विशिष्ट दृष्टिकोण को प्रस्तुत करना है; तब तो उसे संवादों का अधिक आश्रय लेना होगा। यदि उसका उद्देश्य किसी नवीन तथ्य का उद्घाटन है; तो उसे कथानक का स्वरूप अपने उद्देश्यानुसार गढ़ना होगा।

उद्देश्य के साथ ही, नाटकों के सम्बन्ध में *रस* का भी प्रश्न उठता है। भारतीय नाटकों में रस को प्रधानता दी गई है। प्रत्येक नाटक में कोई न कोई प्रधान रस होता है। अन्य रस भी प्रासंगिक रूप से रहते हैं।

(२) कथावस्तु

नाटक की रचना में कथावस्तु का बड़ा महत्व है। कथावस्तु के स्वरूप और उसके विकास पर नाटक की सफलता बहुत कुछ निर्भर करती है। नाटकीय कथावस्तु की रसात्मकता पर संस्कृत नाट्य शास्त्रियों ने सर्वाधिक बल दिया है। इस सिद्धि के दो साधन हैं—औदात्य और औचित्य। संस्कृत में नाट्य-रचना का उद्देश्य मात्र मनोरंजन कभी नहीं रहा, प्रत्युत समाज के स्तर को उदात्त बनाने की भावना-प्रेरणा ही प्रमुख रही। औदात्य के समान औचित्य का महत्व भी कोई कम नहीं। कथा का वह अंश जो नायक के चरित्र को निन्दनीय बनाता अथवा रस विरोधी हो उसका त्याग ही औचित्य का अर्थ है। इस प्रकार नाटक में वस्तु और रस का सुन्दर सामंजस्य ही कला का उच्चादर्श माना जाता है। कथावस्तु नाटक का शरीर है। अतः उसी की मुख्यता रहती है।

कथावस्तु के दो प्रकार हैं:—(१) आधिकारिक (मुख्य) अर्थात् प्रधान पात्रों से सम्बन्धित कथा। जो फल को पाता है उसे अधिकारी

कहते हैं। अतः आधिकारिक कथावस्तु अंत तक, फल-प्राप्ति तक, चलती है। (२) प्रासंगिक (गौण) अर्थात् वह कथा जिसका सीधा सम्बन्ध नायक नायिका से न हो पर मुख्य-कथा के विकास में योग दे। विस्तार की दृष्टि से प्रासंगिक कथा के भी दो विभाग हैं। (क) प्रकरी—जो बहुत ही छोटी हो (ख) पताका—जो कुछ विस्तृत हो और बहुत दूर तक मुख्य-कथा का साथ दे।

विषय सामग्री के आधार पर कथावस्तु के तीन भेद किये गये हैं:—

(१) प्रख्यात—इतिहास, पुराण या जनश्रुति के आधार पर (२) उत्पाद्य—कल्पना के आधार पर (३) मिश्र—इतिहास और कल्पना का मिश्रण। विभिन्न दृष्टिकोणों से कथावस्तु के अनेक भाग किये गये हैं, यथा अवस्था पंचक, अर्थ-प्रकृति पंचक और संधि पंचक।

अवस्था का अर्थ नायक के व्यक्तित्व के उत्तरोत्तर विकास से है, जिसके हेतु आरम्भ, यत्न प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम की पांच अवस्थाओं की कल्पना की गई है। (१) आरम्भ—कथानक का प्रारम्भ, जिसमें फल की इच्छा होती है। (२) यत्न—इच्छापूर्ति का प्रयत्न किया जाता है। (३) प्राप्त्याशा—विघ्नों से मुक्ति और फल प्राप्ति की आशा बंधती है। (४) नियताप्ति—फल प्राप्ति का निश्चय हो जाता है और (५) फलागम–फल–प्राप्ति हो जाती है।

अर्थ प्रकृतियों का भी सम्बन्ध उनके प्रयोक्ता नायक से है। अर्थ-प्रकृतियों की योजना से नायक के चारित्रिक विकास में नाटकीयता उत्पन्न होती है। मात्र अवस्था पंचक से नाटक में रस-स्त्रोत का आविर्भाव सम्भव नहीं हो सकता, उसके लिये अर्थ-प्रकृतियों की योजना अनिवार्य है। अर्थ-प्रकृतियों की संख्या भी पांच है, "बीज प्रारम्भ नाम की अवस्था से मिलता है। जिस प्रकार फल में बीज छिपा रहता है, उसी प्रकार बीज में नाटक के फल की सम्भावना रहती है। बिन्दु में तेल की बूँद का रूपक है। यह पानी के ऊपर फैलकर विस्तार का द्योतक बन जाता है। पताका और प्रकरी में छोटी अवान्तर कथाएँ होती हैं, जो मूल-

कथा को आगे बढ़ाने में सहायक होती हैं और कार्य अंतिम फल को कहते हैं।"[1]

संस्कृत नाट्य-शास्त्र में संधिपंचक का बड़ा महत्व है। पाँच संधियां ये हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण। 'संधि' शब्द का अर्थ दो वस्तुओं का मेल है। नाटकों में 'अवस्था पंचक' और 'अर्थ प्रकृति पंचक' का समन्वय ही सन्धि पंचक माना जाता है। आरम्भ और बीज का योग मुख सन्धि, यत्न और बिन्दु का समन्वय प्रतिमुख सन्धि, प्राप्त्याशा और पताका का योग गर्भ सन्धि, नियताप्ति और प्रकरी का सम्बन्ध विमर्श सन्धि एवं फलागम और कार्य का सामंजस्य निर्वहण सन्धि है। इस प्रकार सन्धियां अवस्थाओं और अर्थ प्रकृतियों के संयोजन से बने हुए कथानक के चमत्कारपूर्ण अंशों को कहते हैं।

नाटक में कथावस्तु की व्यंजना दो प्रकार से की जाती है। एक तो स्पष्ट मंच पर घटित होती हुई दृश्य-श्रव्य। दूसरे पात्रों द्वारा सूचना दिलाकर सूच्य। सूच्य वस्तु व्यंजना के साधनों को अर्थोपक्षेपक कहते हैं। अर्थोपक्षेपक पांच हैं:—

(१) विष्कम्भक : पूर्व घटित या भावी घटना की सूचना पात्रों के संवादों के माध्यम से (२) चूलिका : नेपथ्य से दिये गये सूचन संकेत। (३) अंकास्य : अंक के अंत में पात्रों द्वारा भावी योजना की सूचना। (४) अंकावतार : बिना पात्रों को बदले पूर्व कथा को आगे बढ़ाना और (५) प्रवेशक : दो अंकों के बीच में घटनाओं की सूचना देना।

पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र के अन्तर्गत नाटकीय वस्तु के क्रमिक विकास की अधोलिखित छह अवस्थाएँ मानी गई हैं:—

१. निरूपण (Exposition) यह कथानक का प्रारम्भिक भाग है। इस भाग में नाटककार संक्षिप्त संकेतों द्वारा पाठकों को परिस्थिति का पूर्ण ज्ञान करा देता है।

---

१. काव्य के रूप—पृ० ३१-३२

२. अवरुन्धन (Conflict) यहाँ दो विरोधी वर्गों, व्यक्तियों या तत्वों में पारस्परिक संघर्ष की भूमिका बन जाती है। संघर्ष आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार का हो सकता है।

३. उत्कर्ष (Rising Action) इसमें संघर्ष स्पष्ट होकर चरम सीमा की ओर बढ़ने लगता है। नायक और खलनायक की रूप रेखाएँ स्पष्ट उभर आती हैं।

४. चरमोत्कर्ष (Crisis) यहाँ संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। औत्सुक्य इस भाग का प्राण है।

५. अपकर्ष (Falling Action) संघर्ष सदैव नहीं रह सकता। एक पक्ष की शक्ति का ह्रास और दूसरे पक्ष की विजय की सम्भावना इस भाग में दिखाई देने लगती है।

६. फल (Catastrophe) यह अंतिम अवस्था है। यहाँ कार्य सम्पन्न हो जाता है और अन्तिम फल की प्राप्ति हो जाती है।

पाश्चात्य नाट्य-रचना में संघर्ष अथवा द्वन्द्व को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। दुःखान्त नाटकों का प्रचलन होने के कारण पाश्चात्य नाटकों में औत्सुक्य योजना के लिए भी पर्याप्त अवकाश रहता है। आधुनिक भारतीय नाटकों पर इन सभी बातों का प्रभाव पड़ा है, और निश्चय ही उनमें संस्कृत नाट्य सिद्धान्तों का अनुसरण इतना नहीं पाया जाता जितना पाश्चात्य सिद्धान्तों का। फिर भी, आधुनिक भारतीय नाटकों की संस्कृत नाट्य-शास्त्र के आधार पर समीक्षा संभव है। वस्तु के क्षेत्र में पाश्चात्य और भारतीय तत्वों का काफी मेल हो जाता है। बाबू गुलाबराय के निष्कर्षानुसार, "आरम्भ नाम की अवस्था पहली अवस्था से मिलेगी, प्रयत्न दूसरी से, प्राप्त्याशा में तीसरी और चौथी की कुछ झलक आ जायगी, नियताप्ति पाँचवीं से मिलेगी और फलागम छटी से"[1]।

१. काव्य के रूप—पृ० ३१

संकलन-त्रय

संकलन त्रय (Three Unities) से अभिप्राय समय की एकता (Unity of Time) स्थान की एकता (Unity of Place) और कार्य की एकता (Unity of Action) से है । इसका उल्लेख यूनानी दार्शनिक अरस्तू के 'काव्य शास्त्र' (Poetics) में मिलता है । संस्कृत नाट्याचार्यों ने भी समय, स्थान और कार्य की एकता पर अपने ढंग से विचार किया है । 'समय की एकता' के सम्बन्ध में हमारे यहाँ 'अंक में काल नियम' के अन्तर्गत विचार किया गया । 'स्थान की एकता' भारतीय नाट्य-शास्त्रकारों द्वारा प्रतिपादित 'देश नियम' में आ जाती है । 'कार्य की एकता' का सम्बन्ध 'अवस्था पञ्चक', 'अर्थ-प्रकृति पंचक' और 'संधि पंचक' के नियमों से स्पष्ट है ।

'समय की एकता' का अर्थ है, घटना के वास्तविक समय का रंगमंच के समय से ऐक्य । स्पष्ट है, 'समय संकलन' का इतनी कठोरता से निर्वाह अव्यावहारिक है, विशेष परिस्थितियों में तो नितान्त असम्भव । प्राचीन नाटककार भी इस नियम का अविकल रूप पालन करने में असमर्थ रहे हैं । यह नियम नाटक की स्वाभाविकता को बढ़ाने के उद्देश्य से बना; पर कलात्मक रचना में स्वाभाविकता की ऐसी जड़ मांग का विशेष आदर नहीं, क्योंकि कला 'अनुकरण' का पर्याय नहीं है—वहाँ चयन है, काट-छाँट है । 'समय संकलन' का निर्वाह करने पर नाटक में या उसके एक अंक में सारी घटनाओं का, एक ही दिन में होना प्रदर्शित किया जायगा । इससे पाठक और दर्शक शीघ्र ही ऊब उठेंगे, क्योंकि यहाँ उनकी कल्पना शक्ति को कार्य करने का अवकाश ही नहीं मिलेगा । दूसरे, अधिक वर्षों का अन्तराल, 'समय संकलन' से बंधी नाट्य कला, बताने में असमर्थ रहेगी । अतः इस अव्यवहारिकता से बचने के लिए सूच्य वस्तु व्यंजना के साधन अर्थोपक्षेपकों (विष्कम्भक, चूलिका, अंकास्य, अंकावतार और प्रवेशक) की योजना की गई है । यदि किसी नाकट में

'समय की एकता' का दृढ़ता से निर्वाह संभव हो सके, तो उसे अपवाद ही समझना चाहिए।

'स्थान की एकता' का अर्थ है, जो घटनायें नाटक में दिखाई जायँ, उनका सम्बन्ध एक ही स्थल या एक ही नगर से हो। यदि 'स्थान-संकलन' का ध्यान नहीं रखा गया, तो नाटक में अस्वाभाविकता का समावेश हो जायगा; क्योंकि रंगमंच पर पात्र निर्दिष्ट काल में आवागमन अथवा यातायात नहीं कर सकेंगे। 'समय संकलन' की तथाकथित अस्वाभाविकता के समान यह अस्वाभाविकता भी स्थूल और जड़ है। 'स्थान संकलन' नाटकीय कार्य-व्यापार को सीमित क्षेत्र में आबद्ध कर देता है। सभी घटनाएँ सदैव एक ही स्थान पर संघटित नहीं होतीं। वैज्ञानिक युग के आधुनिक समाज का नाटकीय चित्रण इस सीमा में सम्भव नहीं। संस्कृत नाट्याचार्यों ने स्थान सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के उद्देश्य से अंकच्छेद की व्यवस्था की है। अतः 'समय संकलन' के समान स्थान संकलन का प्रयोग भी आधुनिक नाटकों में नहीं किया जाता।

'कार्य की एकता' का अर्थ है, नाटक में ऐसी कोई भी घटना सन्निविष्ट न की जाय, जो प्रमुख घटना से सम्बन्ध न रखती हो। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि नाटक में प्रासंगिक कथाओं का समावेश ही न किया जाय। प्रासंगिक कथा अथवा घटना का आवश्यकतानुसार समावेश हो, पर वह मूल कथा से पूर्ण रूप से संयोजित हो। जे० आर० लॉवेल[१] के मत से, "जिस प्रकार देह के अंग का दूसरे अंग से सम्बन्ध है, उसी प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध-सामञ्जस्य नाटक के विभिन्न भागों में होना अपेक्षित है।" निःसंदेह संकलन-त्रय के अन्तर्गत 'कार्य संकलन' की योजना सबसे अधिक महत्व रखती है। वह नाटक की प्रमुख आवश्यकताओं में से है।

---

१. The old English Dramatists—J. R. Lowell Page 55.

वास्तव में, नाट्य-कला विषयक सभी संकेतों, निर्देशों, सिद्धान्तों, वर्जनाओं, और विधि-विधानों का उद्देश्य नाटकों को रंगमंच के अथवा अभिनय के उपयुक्त बनाने और उनमें स्वाभाविकता का अधिक-से-अधिक समावेश करने का होता है। अभिनय-कला के विकास के साथ-साथ साहित्य की कला का रूप भी बदलता रहता है। रंगमंच और अभिनय-कला ने वर्तमान युग में बड़ी उन्नति की हैं। इसी कारण वे तत्त्व जो किसी समय वर्तमान उन्नति के अभाव में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थे, आज अपनी उपादेयता खो बैठे हैं।

(३) चरित्र-चित्रण

उपन्यास से भी अधिक नाटक में पात्रों की प्रमुखता रहती है। प्रधान पात्रों में नायक और नायिका का स्थान है।

भारतीय नाट्य-शास्त्र में नायक को उच्चगुणसम्पन्न माना गया है। वास्तव में अभिजात्य की कसौटी उच्चकुल में उत्पन्न होना नहीं, उच्चगुणसम्पन्न होना है। यही भद्रता की पहचान है। नाटक में नायक को जानने के दो साधन हैं—(१) जिसे फल-प्राप्ति हो; और (२) जिसके उत्थान या पतन में पाठकों व दर्शकों की सर्वाधिक रुचि हो। इस प्रकार नायक की महता स्पष्ट है। इसी कारण भारतीय नाट्य-शास्त्रकारों ने नायक में दोषों और दुर्बलताओं को बताना उचित नहीं समझा। नायक के आचरण का प्रभाव दर्शकों पर पड़ता है।

नायक चार प्रकार के माने गए हैं—(१) धीरोदात्त—उदार, शक्ति और दृढ़ता के साथ क्षमावान, आत्म-प्रशंसा न करने वाला, अहंकार-शून्य, एवं आत्म-गौरव-प्रिय। (२) धीर-ललित—कोमल स्वभाव का, कला-प्रिय। (३) धीर-प्रशान्त—शांत और संतोषी स्वभाव, और (४) धीरोद्धत—उद्धत और चपल स्वभाव का, आत्म-श्लाघा और अहंकार से परिपूर्ण। उपर्युक्त चारों प्रकार के नायकों में धीरोदात्त सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

यौन-वासना की दृष्टि से नायक के चार अन्य विभाग किये गये हैं—(१) अनुकूल—एक पत्नीव्रत (२) दक्षिण—एक से अधिक पत्नियाँ, सबको प्रसन्न रखने में चतुर, प्रधान-महिषी के प्रति आदरभाव (३) शठ—अन्य स्त्रियों के प्रति प्रकट-प्रेम, पर निर्लज्ज नहीं और (४) धृष्ट—दुराचारी और निर्लज्ज।

भारतीय नाट्य-शास्त्र में नायिकाओं के भी अनेक भेद किये गये हैं। हमारे यहां नायिका का भी आदर्श ऊँचा रहा है। उसमें आठ अंगों या गुणों की प्रतिष्ठा की गई है, यथा—यौवन, रूप, गुण, शील, प्रेम, कुल का गर्व, वैभव और भूषण।

नायक का प्रतिद्वन्द्वी प्रतिनायक कहलाता है, जो धीरोद्धत होता है। प्रासंगिक कथावस्तु का नायक पीठमर्द कहलाता है, जो प्रधान नायक का सहयोगी होता है। संस्कृत और अंग्रेजी नाटकों में विदूषक (Clown) का भी स्थान है—मनोरंजन-तत्त्व के समावेश के लिए। आधुनिक नाटककार विदूषक के लिए किसी विशिष्ट पात्र को न रख अन्य सामान्य पात्रों के द्वारा ही विनोद और हास्य की व्यंजना कर देते हैं।

नाटक में चरित्र-चित्रण प्रत्यक्ष (विश्लेषात्मक) रूप से संभव नहीं। मात्र परोक्ष ढंग से ही नाटककार अपने पात्रों का चरित्रांकन कर सकता है—यह ढंग अभिनयात्मक कहलाता है, जिसके तीन रूप हैं—(१) पात्र स्वयं अपने चरित्र का उद्घाटन करे (२) नाटक के अन्य पात्र किसी के चरित्र पर टिप्पणी दें और पात्रों के कार्यों से ही उनके चारित्रिक गुण व्यक्त हों। प्रथम और तृतीय में (कथनी और करनी में) सामञ्जस्य बताना ही श्रेष्ठ कला और नाटकीय-कौशल का उदाहरण है।

चरित्र का सम्बन्ध व्यक्ति के स्वभाव से है। स्वभाव से ही व्यक्तित्व बनता है। आधुनिक मनोविज्ञान बताता है कि मनुष्य के विशिष्ट स्वभाव को बनाने में दो तत्त्व प्रमुख रूप से कार्य करते है। प्रथम आन्तरिक है, परम्परा से सम्बद्ध है, संस्कार-जन्य है। संस्कारों का प्रभाव

मनुष्य पर बड़ा गहरा पड़ता है। संस्कार प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते रहते हैं। उनसे छुटकारा सदैव सम्भव नहीं है। संस्कारों को बदलने अथवा उनके प्रभाव को कम करने में स्वभाव-निर्माण का जो दूसरा तत्त्वकार्य करता है, वह बाहरी है, समाज गत है। यह तत्त्व परिस्थितियों या वातावरण का प्रभाव है। डॉ० रामकुमार वर्मा के शब्दों में, "·····संस्कार मेरुदंड बनकर पात्र को अपनी स्थिति में बड़ी स्वाभाविकता प्रदान करता है।···यदि (परिस्थितियों का) प्रभाव संस्कार के अनुकूल होता है तो पात्र उचित या अनुचित दिशा में सरलता से विकास करने लगता है। यदि यह प्रभाव संस्कार के प्रतिकूल पड़ता है तो पात्र में अन्तर्द्वन्द्व या मानसिक संघर्ष आरम्भ होता है।···—संस्कार और प्रभाव की उचित युति में ही चरित्र-चित्रण का सौन्दर्य है।"

(४) अभिनेयत्व.

अभिनय नाटक का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इसी तत्त्व से नाटक का आविर्भाव और उसकी कला का विकास हुआ है। अभिनय के द्वारा नाटक की सामग्री अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति की ओर पहुंचाई जाती है।[१] अभिनय के चार प्रकार हैं—आँगिक, वाचिक. आहार्य और सात्विक।

आंगिक अभिनय के अन्तर्गत शारीरिक अंगों का सोद्देश्य-संचालन आता है। नाटककार आँगिक अभिनय के संकेत यथास्थान कोष्टकों में लिखकर दे देते हैं। यदि वे ऐसा न करें तो उनकी पूर्ति करनी पड़ती है। नाटक की सामग्री को अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति तक पहुँचाने में नाटककार के साथ-साथ नाट्य-निर्देशक का भी योग रहता है। नाट्य-निर्देशक परिस्थिति और भावों के अनुरूप अभिनेताओं को अपेक्षित आंगिक संचालन का शिक्षण दे सकता है। वास्तव में अभिनेयत्व का यह प्रकार नाट्य-निर्देशक की योग्यता पर ही आश्रित है। स्पष्ट है,

१. काव्य के रूप—बाबू गुलाबराय, पृ० ५३

यदि नाट्य-निर्देशक ने आंगिक अभिनय के सफल प्रयोग की व्यवस्था मंच पर नहीं की तो नाटक का प्रभाव जाता रहेगा। गलत आंगिक अभिनय तो नाटक को हास्यास्पद बना देंगे।

वाचिक अभिनय का सम्बन्ध वाणी और भाषा से है। भारतीय नाट्य-शास्त्र में संवाद या कथोपकथन को नाटक का स्वतंत्र तत्त्व नहीं माना है। वाचिक अभिनय के अन्तर्गत ही संवाद सम्बन्धी समस्त कला उतर आती है। वाणी से अभिप्राय अलिखित भाषा से अर्थात् शब्दों के उच्चारण, वाक्यों के बोलने के ढंग (लहजा) आदि से है। इससे आंगिक अभिनय को स्पष्टता तो मिलती ही है, नाटक का प्रभाव भी बढ़ता है। वाणी के अभिनय में ध्वनि-विज्ञान के तत्त्वों का समावेश है। जहाँ भावों को अभिव्यक्त करने में वाणी असमर्थ रहती है वहाँ मूक अभिनय का आश्रय लिया जाता है। वाणी की असमर्थता के अतिरिक्त मूक अभिनय का अन्य उद्देश्य भी हो सकता है; यथा कोई गोपनीय बात प्रेषित करने की आवश्यकता आदि।

वाचिक अभिनय के अन्तर्गत ही पात्रों द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट सम्बोधन शब्द भी आते हैं, जैसे–सेवक राजा को 'देव' कहेगा, बौद्धों को सभी 'भदन्त' कहेंगे आदि।

वाचिक अभिनय के अन्तर्गत दूसरा तत्त्व भाषा तथा संवाद का है। स्वाभाविकता लाने के उद्देश्य से विभिन्न पात्रों की भाषा में पारस्परिक अंतर कर देना कभी-कभी आवश्यक हो जाता है। प्राचीन संस्कृत नाटकों में यह अन्तर प्राकृत और संस्कृत के प्रयोग से बताया जाता था।

आजकल अपेक्षित स्थलों पर भाषा को ग्रामीण रूप देकर अथवा उच्चारण एवं वाक्य-विन्यास को प्रांतीय स्पर्श से जरा विकृत कर भाषागत स्वाभाविकता लाने का प्रयत्न किया जाता है। पर भाषा को असाहित्यिक अथवा अति-साहित्यिक रूप नहीं दिया जाना चाहिए।

वाचिक अभिनय के अन्तर्गत संवादों का भी समावेश है, पर नाटक में संवादों के माध्यम से अनेक कार्य सम्पन्न किये जाते है। संवाद मात्र

विशिष्ट वाक्य-विन्यास ही नहीं हैं, उनमें सोद्देश्य अर्थ-व्यंजना भी रहती है। वे एक ओर कथा विकास में सहायक होते हैं तो दूसरी ओर पात्रों के चरित्र पर प्रकाश भी डालते हैं। नाटक का कथानक-मात्र संवादों पर ही आश्रित है। चरित्रांकन में तो अन्य प्रणालियों से भी काम लिया जाता है, जैसे पात्रों के कार्य-कलाप से चारित्रिक विशेषताएँ प्रकट की जाती हैं। नाटक में निरुद्देश्य संवादों को कोई स्थान नहीं, भले ही दैनिक जीवन में हम अनेक असम्बद्ध एवं अनावश्यक बातें करते हों।

संवादों में स्वाभाविकता लानी चाहिए। इस स्वाभाविकता के अनेक पहलू हैं। स्वाभाविकता का अर्थ यह नहीं कि हम दैनिक जीवन के वार्तालाप को ज्यों-का-त्यों लिपि-बद्ध करदें। स्वाभाविकता का अर्थ है नाटक में पात्र अपने व्यक्तित्व के अनुरूप ही बोलें। एक मूर्ख पात्र के मुख से राजनीति की गंभीर बातें कहलाना अस्वाभाविक होगा, अथवा किसी अपढ़ अशिक्षित से शिक्षितों जैसी बातें कहलवाना अविश्वसनीय समझा जायगा।

अर्थ-व्यंजना सम्बन्धी इन सीमाओं के अतिरिक्त नाटकीय संवादों में रूपगत अंकुश भी हैं, यथा—संवाद छोटे हों। लम्बे-लम्बे सम्भाषणों का समावेश नाटक में नीरसता उत्पन्न करता है। संवाद उलझे हुए भी न हों। एक ही वाक्य से दो या अधिक अर्थों की व्यंजना न हो। वे स्पष्ट और चुभते हुए हों।

आहार्य अभिनय का सम्बन्ध पात्रों की वेशभूषा से है। पात्रों के वस्त्रादि उनके व्यक्तित्व के अनुरूप होने चाहिए। उनकी बनावट के सम्बन्ध में प्रादेशिक विशेषताओं का भी ध्यान रखना अनिवार्य है। इसी प्रकार कालानुसार उपयुक्त साज-सज्जा भी होनी चाहिए। आहार्य अभिनय से तत्कालीन वातावरण उत्पन्न किया जाता है। तत्कालीन सभ्यता-संस्कृति का भी इससे ज्ञान होता है। ऐतिहासिक नाटककार को इस तत्त्व का बड़ा ध्यान रखना पड़ता है। उसे सम्बन्धित काल की

ंग की चित्रमयी और लच्छेदार बातचीत करने वाले कई पात्र आ जाते हैं। प्रेमीजी के नाटकों में यह खटकने वाली बात नहीं मिलतीं।"[२] प्रसादजी की भाषा अथवा संवादों में जो 'दोष' शुक्ल जी ने बताया है; वह प्रेमीजी ही क्या, किसी भी अतिसाधारण नाटककार में नहीं मिलेगा। इस तथ्य से उस नाटककार की या प्रेमी जी की नाट्य-कला, प्रसादजी से या स्वतंत्र रूप से भी, श्रेष्ठ कदापि नहीं मानी जा सकती है। जहाँ तक भाषा संवादों का प्रश्न हैं; प्रेमीजी के नाटकों के अध्ययन से शुक्लजी के मत की पुष्टी नहीं होती। प्रेमीजी की भाषा में उर्दू, फ़ारसी के शब्दों का मेल बड़ा ही भद्दा लगता है। संवादों में कोई नाटकीय चमत्कार दृष्टव्य नहीं होता। कहीं-कहीं तो संवाद सीधे किसी लेख के गद्यांश से प्रतीत होते हैं। पात्रों के नाम यदि हटा दिये जाएँ तो अनेक दृश्य अच्छे-खासे गद्य-खंड बनकर रह जायेंगे। भाषा और संवादगत दुर्बलता; प्रेमीजी के नाटकों में प्रमुख रूप में पाई जाती है।

प्रेमीजी के नाटकों का प्रशंसात्मक परिचय प्रो. जयनाथ 'नलिन' ने बड़े विस्तार से प्रस्तुत किया है; जिसमें नलिन जी की सहृदयता ही अधिक व्यक्त हुई है। उनके विचारों का संक्षिप्त बिवरण इस प्रकार है:—

"गाँधी युग के साहित्य में प्रेमीजी की रचनाओं का विशिष्ट स्थान है। राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरणा देने में प्रेमीजी के नाटकों का कार्य किसी भी राष्ट्रीय नेता से कम नहीं। भारतीय राष्ट्रीय एकता और सबलता के लिए हमें प्रेमीजी के नाटक सदा मार्ग दिखाते रहेंगे।

जब प्रेमीजी की लेखनी कला सृजन के लिए सजग हुई तब भारतीय महान् राष्ट्र दासता की शृंखला तोड़ने के लिए संघर्ष कर रहा था। देश का आकाश राष्ट्रीय आन्दोलन के उमंग भरे कोलाहल से गूँज रहा था। हिन्दू-मुस्लिम एकता उस सम्मिलित संघर्ष की शक्ति थी। पर,

[२] हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ. ५५२

केवल हिन्दू मुस्लिम एकता ही प्रेमी के नाटकों में नहीं; उनमें वह सब कुछ भी है, जो राष्ट्रीय, सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के लिए अनिवार्य है। प्रेमीजी की नाटकीय प्रेरणा की पृष्ठभूमि है—राष्ट्रीय आदर्श एवं नैतिकता। प्रेमीजी के सभी नाटकों में सामन्ती युग, जब मुग़ल साम्राज्य भारत में स्थापित था, बलिदान और देशभक्ति का संगीत बनकर बोल रहा है ऐतिहासिक कथाओं में प्रेमी ने गाँधीवादी राष्ट्रीय आदर्श की प्राण-प्रतिष्ठा की है। गाँधीवाद का प्रभाव प्रायः उनके सभी नाटकों में स्पष्ट है—यही गाँधीवादी राष्ट्रीयता का आदर्श प्रेमी के नाटकों की प्रेरणा है।

प्रेमी जी के सभी नाटकों की कथावस्तु भारतीय मुस्लिम-काल के इतिहास पर आधारित है। कल्पना का उपयोग करते हुए भी प्रेमी जी ने अपने नाटकों में इतिहास की मर्यादा की पूरी रक्षा की है। इतिहास के सत्य की रक्षा करते हुए प्रेमीजी ने नवीन जीवन निर्माण का मार्ग दिखाया है और अपनी बात सफलता पूर्वक कह दी है। जनवाणी और ऐतिहासिक पाण्डित्य दोनों के आधार पर प्रेमीजी ने अपने नाटकों के लिए कथासामग्री और पात्र चुने हैं। प्रेमीजी ने जिस इतिहास-युग को अपनी कथावस्तु का आधार बनाया है, वह न तो प्राचीन इतिहास के समान अलिखित और काल्पनिक ही है, और न धुँधला। मुस्लिम काल का इतिहास अनेक लेखकों द्वारा लिखा गया है। अन्तर इतना हो सकता है कि किसी मुस्लिम शासक के किसी कार्य को एक लेखक एक रंग में देखे, दूसरा अन्य रंग में, पर घटनावाली का जोड़-तोड़ या तोड़-मरोड़ नहीं पाया जायगा। इतिहास की आत्मा की रक्षा करते हुए भी प्रेमी जी ने अपनी कल्पना के उपयोग का अधिकार नहीं छोड़ा। इतिहास के कठोर और नीरस बंधन उन्होंने प्रायः तोड़ दिये हैं। प्रेमी जी ने रस को सबल और व्यापक बनाने के लिए ही कल्पना से काम लिया है। इसका उपयोग नवीन अनैतिहासिक पात्रों तथा घटनाओं का निर्माण करने में किया गया है।

'स्वप्न-भंग' की भूमिका में प्रेमीजी लिखते हैं, "मैंने अपने नाटकों के द्वारा राष्ट्रीय एकता के भाव पैदा करने का यत्न किया है। मेरे इन लघु यत्नों को राष्ट्रीय यज्ञ में क्या स्थान मिलेगा, यह मैं नहीं जानता।" प्रेमीजी के नाटकों में देशप्रेम सर्वोपरि तत्त्व है। सभी नाटकों में देश-प्रेम सब भावों से अधिक सजग और गतिशील है। हर एक नाटक की आत्मा में देश-प्रेम की धारा बलिदान के सागर की ओर सुदृढ़ गति से दौड़ती चली जा रही है। 'प्रेमी' के नाटकों की पुकार है, आततायियों-आक्रमणकारियों से अपनी जन्मभूमि की प्राण देकर भी रक्षा करो। देश का यथार्थ अर्थ समझाने की स्थान-स्थान पर लेखक ने चेष्टा की है। शुद्ध व्यक्तिगत पौरुष और वीरता का प्रदर्शन देश सेवा नहीं है, जैसा कि राजपूतों ने समझ रखा था, बल्कि उसे सर्वोपरि समझकर अपने व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा का लय ही देश की सच्ची भक्ति है। यही यथार्थ देश-भक्ति जब हमारे प्राणों में जागेगी, तभी अखण्ड भारतीयता का ज्ञान हमें हो सकेगा। प्रेमीजी की देश-भक्ति या राष्ट्रीयता का दूसरा पक्ष है—समस्त भारतीयता की भावना और इसका स्वरूप है—हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य। प्रेमीजी ने अपनी सामंजस्य कुशल प्रतिभा, इतिहास-सम्मत ज्ञान और मानव-हितैषी कल्पना के द्वारा साम्प्रदायिक एकता का महान् चित्रण किया है। यह प्रेमीजी के ही विशाल हृदय और उदार मस्तिष्क का काम है कि उसने हिन्दू-मुस्लिम विरोध के तूफानी समुद्र में से मानव-प्रेम, धार्मिक सहिष्णुता, साम्प्रदायिक सहयोग और बधुत्व के अमर रत्न निकाल कर भारतीय समाज को प्रकाश दिखाया। चितौड़ का नाम ही हिन्दू-मुस्लिम विरोध का प्रतीक समझा जाता रहा है। उसी चितौड़ को प्रेमी ने दोनों के प्रेमजी की गाँठ बना दिया। सच-मुच, वह कार्य राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भारतीय इतिहास में अद्वितीय है। चितौड़ से अधिक शिवाजी का नाम मुसलमानों को भड़काने वाला है। दुर्भाग्य से ऐसे चरित्रों को स्वार्थियों ने साम्प्रदायिक रंग में भी खूब रंगा है। ऐसे नायक को लेकर नाटक लिखना और धार्मिक कट्टरता, विद्वेष

और विरोध को बचा जाना ही एक बहुत बड़ी सफलता समझी जानी चाहिए। साम्प्रदायिक सद्भावना की प्रतिष्ठा करना तो और भी दुरूह कार्य है। फिर भी प्रेमी जी की कलम ने दृढ़ता से अपनी बात की आन रखी और कहीं भी साम्प्रदायिक गंध नाटक में न आने दी।

प्रेमीजी के नाटकों का निर्माण ऐसे युग में हुआ जब सामाजिक और राजनैतिक रूप में भारतीय जनता विनाशक रूढ़ियों और विदेशी शासन से संघर्ष कर रही थी। यह युग नीति और आदर्श की आस्था का था। साथ ही जिस युग के यह नाटक हैं, वह युग भी हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष का था। वह भारतीय इतिहास का सामंती युग था। आवश्यक और उपयोगी शौर्य के साथ ही शौर्य प्रदर्शन भी उस युग की विशेषता है। यह युग व्यक्ति प्रधान था। व्यक्ति पूजा की भावना होना अनिवार्य हो जाता है। व्यक्ति पूजा होगी तो व्यक्ति में आदर्श की स्थापना हो ही जायगी। इन्हीं परिस्थितियों के प्रकाश में प्रेमीजी के नाटकों के पात्रों का अध्ययन करना पड़ेगा। सभी नाटकों के नायक भारतीय नाट्य-शास्त्र की दृष्टि से धीरोदात्त हैं। सभी अपने-अपने भू-खंड के निवासियों के आदर्श हैं। जन्म-भूमि की भक्ति, वीरतापूर्ण अहं, कुल-वंश, का अभिमान, सामन्ती गर्व, बलिदान की भावना, निर्भयता और क्षमा आदि गुण किसी-न-किसी रूप में सभी में पाये जाते हैं। हिन्दू नायकों में धर्म का भी गर्व मिलता है और मुसलमान पात्रों में इस्लाम का अभिमान भी पाया जाता है। पर लेखक की प्रतिभा धर्म का उज्जवल रूप भी उपस्थित किया है। प्रेमीजी के बाद के नाटकों में सामन्तीवंशाभिमान कम हो गया है। जन-मत का मान बढ़ता गया है। सामन्तशाही किसानों निर्धनों आदि के निकट आती गई है और प्रजातंत्र की भावना भी स्पष्ट होती गई है। सभी ऐतिहासिक नाटकों के नायकों में आदर्श गुण हैं। वे असाधारण मनुष्य हैं। नैतिक आदर्शों का अपने चरित्रों में लेखक ने इतना अधिक ध्यान रखा है कि नाटक में नैतिकता के उपदेश देनेवाले पात्रों का निर्माण किया है। नायकों के समान नायिकाएँ भी

आदर्श नारी हैं। नायक तथा खलनायक सभी एक विशेष वर्ग के पात्र हैं। शठनायक अधिकतर उन्हीं सब गुणों से युक्त हैं; जो भारतीय साहित्य-शास्त्र में माने गए हैं। शठनायिकाओं के विषय में भी यही समझना चाहिए। यह बात केवल नायक और प्रतिनायक के विषय में नहीं, सभी सद् और असद् पात्रों के विषय में लागू होती है। पात्र केवल विशेष वर्ग के होने के कारण मानवीय मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व से शून्य हैं। संघर्ष की तीव्रता और कार्य की व्यस्तता में अन्तर्द्वन्द्व को समय भी नहीं मिलता, यह ठीक है; तो भी मानवीय हृदय में स्पन्दन तो होना आवश्यक है। प्रेमीजी ने अवसर मिलने पर विभिन्न पात्रों के हृदय की धड़कन को भी पाठक के सामने रखने का प्रयत्न किया है। ऐतिहासिक नाटकों के चरित्रों में रंग भरते हुए प्रेमीजी ने भारतीय रस-सिद्धान्त का बहुत ध्यान रखा है। 'साधारणीकरण' के अनुसार ही अधिकतर चरित्रों का निर्माण किया है। पर वर्तमान जीवन से सम्बन्ध रखने वाले नाटकों के चरित्र-निर्माण में 'व्यक्ति वैचित्र्य' का स्वरूप स्पष्ट है।

प्रेमीजी प्रतिभाशाली नाटककार हैं। उनके पास सजग कला, गतिशील कल्पना और एक सुधर सुरुचिपूर्ण रचना-कौशल है। प्रेमीजी अपने नाटकों की रचना करते समय इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं कि उनके नाटक अभिनीत हो सकें। 'स्वप्नभंग' की भूमिका में वह लिखते हैं, "मैंने इन नाटकों में भाव दिये हैं, कला दी है या नहीं, यह कलाविद् देखें—मुझे फुरसत नहीं। हाँ, इतना प्रयत्न तो मैं करता हूँ कि नाटक रंग-मंच के उपयुक्त रहें, जनसाधारण की पहुँच के बाहर न हों और उनमें रसानुभूति का अभाव न हो।" प्रेमीजी के सभी नाटकों का दृष्य विधान बहुत ही सरल और नाटकोचित है।"[1]

इसमें संदेह नहीं, प्रेमीजी के नाटकों की विषय वस्तु स्वस्थ है। प्रेमीजी का साहित्यिक दृष्टिकोण आदर्शवादी है—वे यथार्थ के नाम

१. हिन्दी नाटककार—पृ. १२१-१५१

पर अस्वस्थ मनोवृत्तियों अथवा विकृत मनःस्थितियों का चित्रण नहीं करते। उनके नायक और नयिकाएँ उदात्त गुणों से सम्पन्न हैं। अतः सामाजिकों पर प्रेमीजी के नाटकों का प्रभाव बुरा नहीं पड़ सकता। उनका नैतिक स्तर प्रशंसनीय है। पर, विषयवस्तु को नाटक के आकार में जब प्रेमीजी ढालते हैं तब वह उपयोगी होते हुए भी आकर्षक प्रतीत नहीं होती। कला की यह विशेषता है कि वह सद्विचारों और सद् भावों को निखारकर आकर्षक बना देती है। प्रेमीजी की कला इस दृष्टि से पगु है। एक साधारण उपदेश या समाज सुधारक के प्रचारात्मक भाषण व प्रवचन जिस प्रकार हमें प्रभावित नहीं कर पाते उसी प्रकार प्रेमीजी के नाटकों की भावधारा अथवा विचारधारा पाठक के मन पर कोई गहरा असर नहीं छोड़ती। मीजी के नाटक सतही हैं; उनमें गहराई का अभाव है। एकरसता का दोष उन्हें और भी ऊबा देने वाला बना देता है।

अनुश्रुति और इतिहास

विक्रम और विक्रम संवत् के सम्बन्ध में इतिहासकारों में बड़ा मतभेद रहा है। पाश्चात्य विद्वानोंने विक्रम और विक्रम संवत् के बारे में सर्वाधिक भ्रांतियों का प्रसार किया; क्योंकि पाश्चात्य विचारकों की यह एक सर्वविदित दुर्बलता है कि वे भारतीय संस्कृति, सभ्यता, साहित्य और इतिहास को श्रेष्ठ और प्राचीन स्वीकार करने में अपने गौरव की क्षति समझते हैं। अतः उनका अध्ययन तठस्थ और निष्पक्ष नहीं रह पाता। पूर्वाग्रहों के कारण वे अनावश्यक अद्भुत कल्पनाएँ करते हैं। लचर दलीलें प्रस्तुत करते हैं और कभी-कभी तो कहीं-कहीं हठधर्मी का भी दयनीय प्रदर्शन करते हैं। महान् विक्रमादित्य भारतीय इतिहास में एक ज्योति-स्तम्भ के समान प्रतिष्ठित है। यहाँ के जन-मानस पर विक्रम की अमिट छाप है। भारतीयों के लिए विक्रम शक्ति-पराक्रम, स्वातंत्र्य, स्वाभिमान-गौरव, आदर्श सम्राट् या गणनायक, वीर-योद्धा, संगठन-एकता, न्याय, औदार्य और प्रेम का प्रतीक है। पर, पाश्चात्य विचारक हैं; जो विक्रम नामराशि किसी व्यक्ति के अस्तित्व के सम्बन्ध में ही संदेह प्रकट करते हैं और विक्रम-संवत् को शकारि विक्रमादित्य की शक-विजय से सम्बद्ध न मानकर, ईसा संवत् के बाद का संवत् ठहराने का असफल प्रयत्न करते हैं। आधुनिक अनुसंधानों से पाश्चात्य विचारकों के तर्क खंडित हो चुके हैं और उनकी मान्यताएँ निराधार प्रमाणित हो चुकी हैं।

विक्रम

वैक्रम-अनुश्रुतियों के आधार पर श्री हरिहर निवास द्विवेदी ने विक्रम-चरित्र का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार दिया है:

"विक्रमादित्य के जन्म के सम्बन्ध में अनेक असाधारण एवं अलौकिक बातें सम्मिलित हो गई हैं। विक्रमादित्य भारतीय अनुश्रुति

में अत्यन्त महान् व्यक्ति माने गये हैं। ऐसे व्यक्ति का जन्म किसी विशेष उद्देश्य से होता है। राम और कृष्ण के जन्म का हेतु धर्म की स्थापना दुष्टों का दलन एवं संतों की रक्षा था। उसी प्रकार विक्रम का जन्म भी भविष्य-पुराण के अनुसार 'शकानांश्च विनाशार्थं' एवं 'आर्य धर्म-विवृद्धये' हुआ था कथासरित्सागर के अनुसार भी उसका अवतरण म्लेच्छों से आक्रांत पृथ्वी के उद्धार के लिए हुआ था। इन दोनों कथाओं में शिवजी के गण 'माल्यवान्' ने विक्रमादित्य के रूप में अवतार लिया था।

प्रबन्ध चिन्तामणि में विक्रम के पिता का नाम नहीं दिया और न उनके जन्म में कोई अलौकिकता बतलाई गई है। सिंहासनबत्तीसी के जैन-पाठ में गर्दभरूपधारी गन्धर्व है; कालकाचार्य कथा में गर्दभिल्ल तथा बेतालपच्चीसी और भविष्यपुराण में गन्धर्वसेन है। इन सब नामों में बहुत अधिक ध्वनिसाम्य है। कथासरित्सागर का 'महेन्द्रादित्य' नाम अवश्य भिन्न है। माता के नाम में तो साम्य बिल्कुल नहीं है।

प्रबन्ध चिन्तामणि ने विक्रम को गरीब तथापि स्वाभिमानी राज-पुत्र बतलाया है। उसने अग्निबेताल से लड़कर अवन्ति का राज्य प्राप्त किया। कथासरित्सागर, भविष्यपुराण, कालकथा, सिंहासनबत्तीसी एवं बेतालपच्चीसी सभी उसे राजा का बेटा बतलाते हैं, इनमें से कुछ में वह भाई शंख से राज्य लेता है, कुछ में भर्तृहरि से तथा कुछ में सीधा अपने पिता से।

विक्रमादित्य का राज्य विस्तार भी अत्यधिक बतलाया गया है। कथासरित्सागर में उन देशों की गणना कराई गई है। कथासरित्सा-गर का विक्रमादित्य सिंहल, मलयदीप आदि के राजाओं का मित्र था सिंहासनबत्तीसी के अनुसार पाण्ड्यदेश से इसे कर मिलता था। वास्तव में अनुश्रुति का विक्रम समस्त संसार का एकछत्र सार्वभौम सम्राट् था। रूम और चीन तक तो वह विजय करने जाया करता था और फारस के राजा को उसका सेनापति ही बाँध लाता था।

	कालक कथा	कथा सरित्सागर	बेताल पच्चीसी	भविष्य पुराण	सिंहासन बत्तीसी	प्रबन्ध चिंतामणि
	१	२	३	४	५	६
पिता	गर्दभिल्ल	महेन्द्रादित्य	गन्धर्वसेन	गन्धर्वसेन	गर्दभ वेशधारी गंधर्व (केवल जैन पाठ में)	...
माता	...	सौम्यदर्शना	...	वीरमती	मदन रेखा (केवल जैन पाठ में)	...
भाई	...	...	(१) शंख (२) भर्तृ-हरि	(१) शंख (२) भर्तृ-हरि	भर्तृ हरि (जैन पाठ में)	भर्तृ हरि
पुत्री	...	...	...	...	...	प्रियंगु-मंजरी
विवाह	...	सात पत्नियाँ मलयावती, मदन लेखा आदि	...	...	...	...
पुरोहित	...	...	...	...	(१) त्रिविक्रम (२) वसुमित्र	...
मंत्री	...	...	...	...	भट्टि, बहिसिंधु	...
सेनापति	...	विक्रम शक्ति	...	...	चंद्र	...

राजा विक्रमादित्य की युद्ध वीरता की कथा वर्णन करने में अनुश्रुति ने अधिक समय नहीं लगाया। परन्तु दूसरे की थोड़ी-सी भलाई के लिए वह अपने प्राण देने को भी नहीं चूकता था। करोड़ों की संख्या में वह दान देता था। तुलसीदास ने रामराज्य में सभी सुखों की कल्पना की है। हमें भी सिंहासनबत्तीसी में विक्रम राज्य की बड़ी विशद एवं सुन्दर कल्पना मिली है। दिन-रात प्रजा पालन में तत्पर, पर दुःख परायण विक्रम की प्रजा सुखी हो यह स्वाभाविक ही है।

विक्रमादित्य ने संवत् प्रवर्त्तन कब और कैसे किया इसके विषय में अनुश्रुति में बहुत स्पष्ट उल्लेख नहीं है। प्रबन्ध चिंतामणि में विक्रम की मृत्यु से संवत् का प्रारम्भ माना है। सिंहासनबत्तीसी में पृथ्वी को ऋणहीन करके संवत्-प्रवर्त्तन किया है। कालक-कथा के अनुसार शकों को हराकर विक्रम ने संवत्-प्रवर्त्तन किया।

जन्म के समान ही विक्रम का अवसान भी लोककथा अत्यन्त रहस्य-पूर्ण बतलाती है। विक्रम का प्रतिष्ठान के शालिवाहन से वैर भी लोक-प्रसिद्ध हो गया है। परम पराक्रमी विक्रम को मारने वाला शालिवाहन भी अलौकिक बन गया था।

विक्रम का सिंहासन और उनके मित्र वैताल के साथ-साथ वररुचि, कालिदास आदि भी इन कथाओं में कहीं-कहीं दिखाई देते हैं। विक्रम का सिंहासन तो भारतीय कथा साहित्य की अत्यन्त आकर्षक वस्तु बन गई है। विक्रम के अतिरिक्त उसपर कोई दूसरा बैठ ही नहीं सकता। उसपर बैठकर न्याय बुद्धि एवं शासन-क्षमता आदि का अपने आप उदय होता है।

इससे यह स्पष्ट है कि लोक मस्तिष्क में इतना गहरा प्रविष्ट होने वाला पर-दुःख भंजन, जन-मन रंजन, दानी, संवत् प्रवर्त्तक वीर विक्रमा-

दित्य केवल कल्पना मात्र नहीं हो सकता। उसकी मूर्ति भारतीय संस्कृति की प्रतीक बन गई। उसका संवत् भारत का राष्ट्रीय एवं धार्मिक संवत्सर हो गया है।"

प्रसिद्ध इतिहासकार डा० भगवतशरण उपाध्याय विक्रम की ऐतिहासिकता पर विचार करते हुए लिखते हैं।"·····यह विचार तो प्रायः प्रमाणित हो जाता है कि ई० पू० प्रथम शताब्दी में कोई विक्रमादित्य नाम का प्रतापी व्यक्ति था। वह कौन था यह कहना कठिन है, और यह भी कि 'विक्रमादित्य' उस व्यक्ति की संज्ञा थी या विरुद था।···किसी समय पंजाब में अनेक गणतंत्र (अराजक प्रजातंत्र) फैले हुए थे। उन्हीं में मालवों और क्षुद्रकों के गण भी थे। अलिकसुन्दर ने जब ३२६ ई० पू० में भारत पर आक्रमण किया था तब मालवों ने उससे सबल मोर्चा लिया था। संभवतः उन्हीं के एक नगर का घेरा डालने पर उनके ही किसी वीर के बाण से अलिकसुन्दर आहत हुआ था।···वही घाव अन्ततः उसकी मृत्यु का कारण हुआ।···मालव लोग उस ग्रीक आक्रमण के समय झेलम के तट पर थे।···अलिकसुन्दर से मुठभेड़ होने के बाद उन्होंने अपना निवासस्थान सर्वथा भयास्पद जाना और वे पंजाब छोड़ दक्षिण पश्चिम की ओर बढ़ चले।···प्रायः १५०-१०० ई० पू० में हम मालवों को उनके नए आवास पूर्वी राजपूताना में प्रतिष्ठित पाते हैं। इसी समय पार्थव शकों का भारतवर्ष पर आक्रमण हुआ जिनके ९५-९६ परिवार सिंधुनद पार करके 'हिन्दुकदेश' चले आये थे और उन्होंने सौराष्ट्र, गुजरात और अवन्ति देश पर अधिकार कर लिया था।··· अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए मालव दक्षिण की ओर बढ़ते गए। ५८ ई० पू० के आसापास वे अजमेर के पीछे से निकलकर अवन्ति की ओर बढ़ चले थे, जहाँ उन्हें एक विदेशी अभारतीय शक्ति से लोहा लेना पड़ा। लड़ाई जरा जमकर हुई क्योंकि एक ओर तो स्वतंत्रताप्रिय मालव थे और दूसरी ओर अवन्ति के वे शक जो पार्थवराज मज्ददात

द्वितीय के क्रोध से भागे हुए थे। उन्हें भारत से बाहर मृत्यु का सामना करना था इसलिए जान पर खेलकर शक मालवों से लड़े परन्तु हार उन्हीं की हुई। मालव विजयी हुए और उन्होंने शकों को अवन्ति से निकालकर उस प्रदेश का नाम अपने नाम के अनुरूप मालवा रखा। अवन्ति इसी तिथि से मालवा कहलाई और इसी विजय तिथि के स्मारक स्वरूप विक्रम-संवत् का प्रचलन हुआ।"[1]

---

१ विक्रम स्मृति ग्रंथ

कालकाचार्य कथा

कालकाचार्य नाम के चार जैन-आचार्य मिलते हैं। विक्रम से सम्बन्धित कालकाचार्य द्वितीय हैं (काल वीर निर्वाण संवत् ४५३ के आसपास)। कालकाचार्य कथा में गर्दभिल्ल की शकों द्वारा पराजय और फिर गर्दभिल्ल-पुत्र विक्रमादित्य द्वारा शकों के पराभव का उल्लेख है। जैन अनुश्रुतियों से इस घटना की पुष्टि होती है। धनेश्वर सूरि रचित शत्रुंजय महात्म्य में विक्रमादित्य का समय वीर संवत् ४६६ बताया है। अनेक इतिहासकार कालकाचार्य कथा की घटनाओं की ऐतिहासिकता स्वीकार करते हैं। श्री० हरिहरनिवास द्विवेदी ने कालक-कथा का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार दिया है : भारत में धारावास नामक एक नगर था उसमें वज्रसिंह नामक प्रतापी राजा रहता था। सुर सुन्दरी नामक उसकी रानी थी। इसी रानी से कालक नामक उसके एक पुत्र हुआ। इस कालक की एक बार गुणाकर नामक जैन आचार्य से भेंट हुई। उनके उपदेश से यह बहुत अधिक प्रभावित हुआ और उनका शिष्य हो गया। कालकाचार्य आगे उज्जयिनी नगरी में रहने लगे; जहाँ गर्दभिल्ल नामक राजा राज्य करता था। उसने एक दिन अत्यन्त रूपवती कालक की छोटी बहन साध्वी सरस्वती को देखा और उसके रूप पर मुग्ध होकर उसे अवरुद्ध करके अपने अन्तःपुर में डाल दिया। कालक ने राजा को बहुत समझाया परन्तु कामान्ध राजा ने एक न मानी। क्रुद्ध होकर कालक ने प्रतिज्ञा की कि यदि गर्दभिल्ल का उन्मूलन न करूँ तो प्रवंचक, संयमोपघातक और उनके उपेक्षकों की गति को प्राप्त होऊँ। कालक ने विचार किया कि गर्दभिल्ल का बल उसकी 'गर्दभी' विद्या है। अतः उसका उन्मूलन युक्ति से ही करना होगा। उन्होंने उन्मत्त का वेष बना लिया। वे प्रलाप करने लगे "यदि गर्दभिल्ल राजा है तो क्या ? यह अन्तःपुर रम्य है

तो क्या ? यदि देश मनोहर है तो क्या ? यदि लोग अच्छे वस्त्र पहिने हैं तो क्या ? यदि मैं भिक्षा माँगता हूँ तो क्या ? यदि मैं शून्य देवल में सोता हूँ तो क्या ?" इस प्रकार इनका हाल देखकर पुर के लोग कहने लगे, 'हाय, राजा ने अच्छा नहीं किया।' राजा की यह निंदा सुनकर मंत्रियों ने भी उसे साध्वी को छोड़ देने की सलाह दी। परन्तु राजा ने एक न मानी। कालक ने उज्जयिनी छोड़ दी और वह शक कुल (सिन्धु नद) के कूल पहुँचे। वहाँ के सामंत साहि कहलाते थे। और उनका नरेन्द्र 'साहानुसाहि' कहलाता था। वहाँ एक साहि के पास कालक रहने लगे; जिसे उन्होंने अपने मंत्र-तंत्र से प्रसन्न कर लिया था। जब कालक साहि के साथ आनंद से रह रहे थे उसी समय एक दूत आया जिसने साहि को साहानुसाहि की भेजी हुई एक कटारी दी और उनको यह संदेश दिया कि उससे साहि अपना गला काट ले। साहि को भयभीत देखकर कालक ने पूछा कि साहानुसाहि केवल उसी से अप्रसन्न हैं अथवा और किसी से भी। ज्ञात यह हुआ कि इसी प्रकार ९५ अन्य साहियों को आदेश दिया गया है। कालक की सलाह से ९६ साहि इकट्ठे हुए और उन्होंने 'हिन्दुक देश' को प्रयाण किया। वे समुद्र मार्ग से सुराष्ट्र (सूरत या सौराष्ट्र) आए। उस देश को ९६ भागों में बाँटकर वे सब वहाँ राज्य करने लगे। वर्षा ऋतु बीतने पर कालक ने गर्दभिल्ल से बदला लेने के विचार से, साहियों को उत्तेजित किया और कहा कि इस प्रकार निरुद्यम क्यों बैठे हो उज्जयिनी नगरी को हस्तगत करो; क्योंकि वह 'वैभवशालिनी मालव भूमि की कुंजी है।' उन्होंने कहा कि हम ऐसा करने को तैयार हैं परन्तु हमारे पास धन नहीं है।' कालक ने ईंटों के एक भट्टे को सोने का बना दिया। उसे लेकर साहियों ने उज्जयिनी पर आक्रमण किया। लाट देश के राजा ने भी उनका साथ दिया। दोनों ओर की सेनाओं में भयंकर युद्ध हुआ। गर्दभिल्ल की सेना के पैर उखड़ गये। गर्दभिल्ल ने नगर के भीतर शरण ली। नगर घेर लिया गया। गर्दभिल्ल ने गर्दभी विद्या सिद्ध की। गर्दभिल्ल उसे

प्रत्यक्ष करने लगा। प्रत्यक्ष होने पर वह बड़ा भयंकर शब्द करती जिसे सुनकर शत्रु-सेना का कोई भी मनुष्य अथवा पशु भय-विह्वल होकर रुधिर वमन करता हुआ अचेत पृथ्वी पर गिर पड़ता। कालक यह रहस्य जानते थे। उन्होंने सब सेना को पीछे हटा दिया और अपने साथ केवल १०८ तीरंदाज रख लिए। उन्हें कालक ने समझा दिया कि जैसे-ही गर्दभी शब्द करने को मुख खोले वे तीर चलाकर उसका मुँह भरदें। इस प्रकार गर्दभी विद्या निष्फल हुई। गर्दभिल्ल हारकर पकड़ा गया और कालक के सामने लाया गया। अपमानित गर्दभिल्ल निर्वासित कर दिया गया। जिस साहि के साथ कालक रहे थे वह सब साहियों का मुखिया बना और वे उज्जयिनी में रहने लगे। वे शक कुल से आए थे; अतः शक कहलाते थे और इस प्रकार शक वंश चला।

कुछ समय बाद विक्रमादित्य हुआ जिसने शक वंश का नाश किया और मालवे का राजा बना। वह पृथ्वी पर एक ही वीर था, जिसने अपने विक्रम से अनेक नरेन्द्रों को दबाया और अपने कार्यों से सुन्दर कीर्ति का संचय किया; जिसने अपने साहस से कुबेर की आराधना की और उनसे वरदान प्राप्त कर शत्रु तथा मित्र सभी को अगणित दान दिये, जिसमें अपार धनराशि देकर सबको ऋण-मुक्त करके अपने संवत्सर का प्रवर्त्तन किया।

कुछ समय पश्चात् एक शक राजा हुआ; जिसने विक्रमादित्य के वंशजों का भी उन्मूलन किया और विक्रम संवत् के १३५ वर्ष पश्चात् उसने अपना शक-संवत् चलाया।"[१]

विक्रम संवत्

विक्रम संवत् के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अपने-अपने मतों का प्रतिपादन किया है; पर संवत्-प्रवर्त्तन की इस घटना को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सका है। कुछ मत यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

---

१. विक्रम स्मृति ग्रंथ—पृ० १६३-१६६।

(१) फरगुसन विक्रम-संवत् का प्रवर्त्तन ईसवी सन् ५४४ मानते हैं—ईसा से ५७-५६ वर्ष पूर्व नहीं। उनके मत से, विक्रमादित्य (नाम अथवा उपाधि) ने हूणों को परास्त कर इस संवत् की स्थापना की और उसे पुराना बताने के लिए उसका प्रारम्भ ६०० वर्ष पूर्व से माना। मैक्समूलर ने भी इस मत का समर्थन किया है; पर आज वे अभिलेख मिल गये हैं; जिनमें सन् ५४४ ई० के पूर्व के भी विक्रम-संवत् का उल्लेख है।

(२) सर भाण्डारकर और विन्सेण्ट स्मिथ का कथन है कि प्रारम्भ में विक्रम संवत्, मालव संवत् के नाम से प्रसिद्ध था। इस संवत् का नाम 'विक्रम-संवत्' चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय ने रखा; क्योंकि 'विक्रमादित्य' उसकी उपाधि थी। पर, गुप्त-वंश का संवत् 'गुप्त-संवत्' अलग से प्रचलित था; फिर यह नया संवत् क्यों ?

(३) कनिंघम के मत से विक्रम संवत् का प्रवर्त्तक कनिष्क था।

(४) सर जॉन मार्शल ने कनिष्क का समय ७८ ई० सिद्ध कर कनिंघम के मत को निराधार प्रमाणित कर दिया। पर, मार्शल ने विक्रम-संवत् का प्रवर्त्तक शक नरेश एजेस को बताया। यह भी सिद्ध हो चुका है कि एजेस ने संवत् अपने नाम से चलाया था—'विक्रम' नाम से नहीं।

(५) कुछ विद्वान् इसे यशोवर्मन् एवं कुछ पुष्यमित्र द्वारा प्रवर्तित मानते हैं।

(६) डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल इसका प्रवर्त्तक गौतमी पुत्र शातकर्णि ठहराते हैं। पर, शातकर्णि की उपाधि या विरुद विक्रमादित्य कभी नहीं रही।

(७) डॉ० अल्तेकर विक्रम संवत् के मूल नाम 'कृत संवत्' से इसका समाधान देते हैं। कृत नामराशि 'मालवगण का सेनाध्यक्ष था; जिसके कारण शक परास्त हुए। इसी कृत नामधारी सेनाध्यक्ष का उपनाम विक्रमादित्य था।

यह तथ्य आज स्पष्ट हो चुका है कि कृत, मालव और विक्रम एक ही संवत् के नाम हैं। श्री० हरिहरनिवास द्विवेदी 'कृत' शब्द के वाच्यार्थ से ही संवत् का अभिप्राय स्पष्ट करते हैं। अभिलेखों और मुद्राओं पर अंकित 'मालव गण' शब्द पर विचार करते हुए वे लिखते हैं, "कृत का सीधा-सादा शाब्दिक अर्थ है 'किया हुआ' अर्थात् कर्म। यहाँ कृत का अर्थ है मालवेश या मालव गणनायक का ऐसा कर्म जो मालव वंश की कीर्ति बढ़ाने वाला था; जिससे मालव गण की स्थिति हुई, विदेशियों का विनाश हुआ और सतयुग या स्वर्णयुग का प्रारम्भ हुआ।"[१] (डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'कृत' शब्द का अर्थ 'सतयुग या 'स्वर्णयुग' बताया है।) 'कृत' का 'विक्रम' में बदल जाने के सम्बन्ध में द्विवेदी जी आगे लिखते हैं, "विक्रमादित्य नामक मालव गण के अधिपति ने वह 'कृत'—कर्म किया; जिसके कारण मालव वंश की कीर्ति बढ़ी; जिसके कारण मालव गण की स्थिति रह सकी और इस संवत् का प्रवर्त्तन हुआ।"[२] इस सम्बन्ध में द्विवेदी जी की एक मौलिक उद्भावना भी है। वे लिखते हैं, "मालव एवं कृत नाम का प्रयोग जिस क्षेत्र में हुआ है वह मालवा या उसके निकट का ही क्षेत्र है। यह भी हो सकता है कि गणतंत्र की भावना युक्त मालव जाति ने अपने गणनायक के व्यक्तिगत नाम को अपने संवत्सर में प्रधानता न दी हो या स्वयं गणनायक विक्रमादित्य ने इसे पसंद न किया हो और मालवे के बाहर राजतन्त्र-प्रधान देशों ने गण की अपेक्षा गणेश मालवेश को ही महत्त्व देना उचित समझा हो।...मालव प्रांत में मालव गण की मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। उनमें कुछ मुद्राएँ ऐसी हैं जिन पर एक ओर सूर्य या सूर्य का चिह्न है तथा दूसरी ओर 'मालवानां जयः' अथवा 'मालवगणस्य जयः' अथवा 'जय मालवानां जयः' लिखा हुआ है।....'पहली शताब्दी ई० पू० के मालव गण के सिक्कों पर मालवानां जयः और

१. 'भारतीय इतिहास में विक्रम समस्या'—वि० स्मृ० ग्रं.—पृ० ४०-४१।
२. वही।

मालवगणस्य जयः की छाप रहती है। वे सिक्के स्पष्टतः किसी बड़ी विजय के उपलक्ष्य में चलाये गये थे और वह विजय ५७ ई० पू० की विजय के सिवाय और कौन-सी हो सकती थी ?' (जयचंद्र विद्यालंकार) परन्तु इतना ही नहीं, सूर्य एवं सूर्य का चिह्न दो बातों की ओर संकेत कर सकता है। या तो यह कि उक्त विजय को प्राप्त करने वाला 'आदित्य' का उपासक था या उसका नाम स्वयं 'आदित्यमय' था और यह नाम विक्रमादित्य होने के कारण वह अपना राज चिह्न सूर्य रखता था।"[१]

शक

शक सीर दरिया के उत्तर में रहते थे। भारत में इनका आगमन लगभग ई० पू० १०० के हुआ। अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध है कि लगभग ई० पू० १०० के उज्जयिनी पर शकों का अधिकार हुआ।

भूमक, नहपान, और उषवदातः—भूमक महाराष्ट्र के क्षहरात कुल का पहला क्षत्रप था। इसने सुराष्ट्र पर राज्य किया। यह नहपान के पूर्व का शासक था। इसी क्षहरात कुल का सबसे प्रसिद्ध क्षत्रप नहपान था। नहपान भूमक के बाद गद्दी पर बैठा। डा० भगवतशरण उपाध्याय विक्रमीय प्रथम शती का संक्षिप्त भारतीय इतिहास लिखते हुये बताते हैं, "पता नहीं कि भूमक और नहपान का पारिवारिक सम्बन्ध क्या था। परन्तु नहपान के शक होने में कोई सन्देह नहीं। उसका जामाता उषवदात (ऋषभ दत्त) था जो एक लेख में अपने को स्वयं शक कहता है। उससे नहपान की जो कन्या ब्याही थी उसका हिन्दू नाम था दक्षमित्रा। नहपान महाराष्ट्र के एक बहुत बड़े भूभाग का स्वामी था। उसने यह सारी भूमि सात वाहनों से जीती थी। उसने अपने जामाता को मालवों के विरुद्ध उत्तमभद्रों की सहायता के अर्थ

---

१. वही।

भेजा था। अपनी विजय के बाद उषवदात ने पुष्कर तीर्थ पर कुछ दान किया। नहपान ११९-२४ ई० में शासन करता था।"[२]

बेताल भट्ट

बेताल भट्ट के बारे में अधिक विदित नहीं है। 'भट्ट' उपाधि से यह प्रकट होता है कि वे विद्वान् थे। प्राचीन काल में 'भट्ट' या 'भट्टारक' पंडितों की उपाधि थी। वैक्रम-अनुश्रुतियों में अग्नि बेताल और विक्रमादित्य का साथ बहुत बताया गया है। उज्जैन में अग्निबेताल के नाम पर 'अगिया बेताल' नामक स्थान आज भी है। यह कहना कठिन है कि बेताल भट्ट विद्वान् तांत्रिक थे अथवा कोई राक्षस (बेताल)। उज्जैन के महाकाल-स्मशान से इनका सम्बन्ध बताया जाता है। 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' की कथा के अनुसार विक्रम अग्निबेताल को रोहणगिरि से जीतकर लाये थे। कथा यह है कि अग्निबेताल को विक्रम भोजन देकर संतुष्ट रखता था। एक दिन उसने अग्निबेताल से अपनी आयु पूछी। अग्निबेताल ने बताया कि विक्रम एक सौ वर्ष जीवित रहेगा। अगले दिन विक्रम नें उसे भोजन नहीं दिया और उससे लड़कर उसे पराजित कर दिया। इस पर अग्निबेताल ने कहा, 'मैं तुम्हारे अद्‌भुत साहस से प्रसन्न हूँ। तुम जो कहो उस आदेश का पालन करने वाला मैं अग्निबेताल तुम्हें सिद्ध हुआ।' हो सकता है कि अग्निबेताल विद्वान् होते हुए भी भूत-प्रेत-पिचास साधना में पारंगत तथा विक्रम के समय में कापालिकों व तांत्रिकों के प्रतिनिधि रहे हों। यह भी संभव हो सकता है कि वे आग्नेय अस्त्रों के विशेषज्ञ हों और इस प्रकार विक्रम को उनसे युद्ध में बड़ी सहायता मिलती रही हो। बेताल भट्ट विक्रम के नवरत्नों में से एक थे। 'बेताल पंचविंशतिका' में वर्णित बेताल-कथा का विवरण द्विवेदी जी ने इस प्रकार दिया है, "विक्रमादित्य के पास एक योगी आया और उसने राजा को प्रसन्न कर उससे

---

२. विक्रम स्मृति ग्रन्थ—पृ० १०।

यह याचना की कि वह उसे एक अनुष्ठान में सहायता करे। वास्तव में यह योगी राजा विक्रम से द्वेष रखता था तथा उसकी बलि देना चाहता था। उदारता एवं सरलता वश राजा ने यह स्वीकार कर लिया। योगी ने रात को राजा को स्मशान में बुलाया और दूर वृक्ष के नीचे लटकते हुए एक शव को लाने को कहा। अत्यन्त भयंकर वातावरण में लटकते हुए शव को राजा उठाने लगा तो वह शव उचककर उस वृक्ष की ऊपर की डाल से लटक गया। राजा ने बड़ी कठिनाई से उसे पकड़ लिया और उसे लाद ले चला। उस शव में एक बेताल घुस गया था। वह राजा के साहस से प्रसन्न था। उसने एक-एक कर राजा को पच्चीस कथाएँ सुनाईं। अन्त में इस बेताल की सहायता से राजा ने उस योगी को ही मार डाला।···विक्रम के नवरत्नों के बेताल भट्ट और अनेक कथाओं के अग्निबेताल तथा इस वाचाल बेताल में क्या सम्बन्ध है—इस प्रश्न का समाधान कर सकना हमारे लिए संभव नहीं है।"

भर्तृहरि

आचार्य भेरुतुंग कृत 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में एवं किंवदन्तियों में भर्तृहरि विक्रमादित्य के बड़े भाई बताये गये हैं। गन्धर्वसेन के दो स्त्रियाँ बताई जाती हैं—धीमति और श्रीमति। पहली से भर्तृहरि और दूसरी से विक्रम हुए। 'बेतालपंचविंशतिका' में गन्धर्वसेन के चार रानियाँ और उनसे छह बेटे, शंख, विक्रम, भर्तृहरि आदि बताये गये हैं। इनके नाम को लेकर यह भी कथा प्रचलित है कि एक बार एक मुनि एक गंधर्व कन्या पर आसक्त हुए और एक मटके में (भर्तरा में) रेतस्खलन के कारण इनका जन्म हुआ। भर्तरा में जन्म होने के कारण इनका नाम भर्तृहरि रखा गया। जब राजा को यह बालक मिला तब उसने इसका पालन-पोषण किया। 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में लिखा है, "अवन्तिपुरी में एक व्याकरण का विद्वान् पंडित रहता था। उसके चार वर्णों की चार स्त्रियाँ थीं। क्षत्री स्त्री से विक्रमादित्य उत्पन्न हुए और शूद्रा से भर्तृहरि का जन्म हुआ।" मालवान लोकसत्तात्मक राज्य

के प्रथम गणाधिपति भर्तृहरि बताये जाते हैं। इन्होंने बारह साल राज्य किया; तदुपरान्त वैराग्य हो जाने के कारण राज्य भार विक्रमादित्य को सौंप दिया। भर्तृहरि महान् विद्वान् और उच्चकोटि के कवि थे। उनके विरचित शृङ्गारशतक, वैराग्यशतक, और नीतिशतक प्रसिद्ध हैं। इनका रचना काल प्रथम शताब्दी या इसके पूर्व बताया जाता है। भतृहरि जीवनदर्शी उदात्त भाव सम्पन्न सत् कवि थे। उन्होंने जीवन की विविध स्थितियों का अनुभव किया था।

'गणनायक विक्रम' और 'संवत्-प्रवर्त्तन'

श्री० हरिकृष्ण 'प्रेमी' के 'संवत्-प्रवर्त्तन' (सन् १९५९) के पूर्व हिन्दी में इसी विषय पर, सन् १९५४ में, एक एकांकी-नाटक लिखा जा चुका था—'गणनायक विक्रम' (लेखक—महेन्द्र भटनागर)। यह एकांकी सर्वप्रथम 'मालवानां जयः' शीर्षक से पं० सूर्यनारायण व्यास द्वारा सम्पादित एवं उज्जैन से प्रकाशित 'विक्रम' (सिंहस्थ-अंक) नामक मासिक-पत्र में प्रकाशित हुआ था। तदुपरान्त 'रश्मियाँ' नामक एकांकी-संकलन में प्रकाशित हुआ। यही एकांकी फिर 'गणनायक विक्रम' शीर्षक से 'अवन्तिका' (पटना) में प्रकाशित हुआ। लेखक की प्रकाशित एक एकांकी नाटक पुस्तक 'विक्रम-भोज' में यह रचना स्वतन्त्र रूप से भी साहित्य-जगत् के सम्मुख आ चुकी थी। इस पुस्तक के आमुख में पं० सूर्यनारायण व्यास लिखते हैं, "महेन्द्र जी ने विक्रम के गणनायक रूप का यह एकांकी बहुत समय पूर्व लिखा था, 'विक्रम' में तथा अन्यत्र प्रकाशित भी हुआ था; यह बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुआ है।"

'गणनायक विक्रम' के दो प्रमुख उद्देश्य हैं। लेखक के शब्दों में, "गणनायक विक्रम' में मैंने विक्रम की शक्ति, संगठन-योग्यता, देशभक्ति आदि चारित्रिक विशेषताओं के साथ-साथ 'मालव संवत्' और 'विक्रम-संवत्' के विवाद का कारण भी स्पष्ट किया है—जो आधुनिक शोध-विवरणों पर आधारित है।" वास्तव में, 'गणनायक विक्रम' श्री० हरिहरनिवास द्विवेदी की मान्यता पर आधारित है। 'विक्रम संवत्' के नाम एवं उसकी प्राचीनता पर विचार करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं, "यहाँ यह बात भी विचारणीय है कि मालव एवं कृत नाम का प्रयोग जिस क्षेत्र में हुआ है वह मालवा या उसके निकट का ही क्षेत्र है। यह भी हो सकता है कि गणतंत्र की भावनायुक्त मालव जाति ने अपने गणनायक के व्यक्तिगत नाम को अपने संवत्सर में प्रधानता

न दी हो या स्वयं गणनायक विक्रमादित्य ने इसे पसन्द न किया हो और मालवे के बाहर राजतन्त्र प्रधान देशों ने गण की अपेक्षा गणेश मालवेश को ही महत्त्व देना उचित समझा हो।"[१] इसी धारणा को अपनाकर 'गणनायक विक्रम' की रचना हुई है।

'गणनायक विक्रम' में कुल चार दृश्य हैं। पुजारी, जैन-साधु, साहि, शक-सैनिक एवं कुछ मालवों के अतिरिक्त इस एकांकी में चार पात्र ही प्रमुख हैं—विक्रम (सेनाध्यक्ष और तत्पश्चात् गणनायक), वीर देव (विक्रम का साथी), विजया (एक मालव युवती) और नहपान (शक-नरेश)। प्रथम-दृश्य में तत्कालीन राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक स्थिति का निर्देश हुआ है और अन्त में शिव-मंदिर में विक्रम, वीर देव तथा कुछ मालव, देश की स्वाधीनता और शकों को निर्वासित कर देने की प्रतिज्ञा करते हैं। इस दृश्य में 'विक्रम' का परिचय भी सामने आ जाता है। द्वितीय दृश्य मे जैन-साधुओं और विक्रम तथा उनके साथियों के बीच गोष्ठी होती है; जहाँ कालकाचार्य सम्बन्धी प्रसंग सूच्य मात्र है तथा निष्कर्ष रूप में जैन-समुदाय का राजनैतिक-संघर्ष में तटस्थ रहने का निश्चय है। तृतीय दृश्य में शकराज नहपान और उसके सैनिक साथियों की पतित स्थिति का एवं सूच्य संवादों के माध्यम से युद्ध का विवरण दिया गया है; तथा अन्त में विक्रमपक्ष की विजय की घोषणा है। चतुर्थ और अन्तिम दृश्य में विजय के तत्काल बाद ही मालव विजयोत्सव मनाते हैं। इसी दृश्य में संवत्-प्रवर्त्तन होता है। अन्तिम संवाद इस प्रकार हैं:—

"वीरदेव—आज मालव की स्वतंत्रता का यह प्रथम दिवस है। राष्ट्रीय विजय की स्मृति में हम आज से 'विक्रम संवत्' चलाना चाहते हैं। मैं इस सम्बन्ध में मालव जनता की अनुमति ले चुका हूँ।"

---

१. विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ पृ० ४१।

सब मालव—'विक्रम-संवत्' अमर हो।

विक्रम—नहीं, नहीं, बंधुओं! 'विक्रम-संवत्' नहीं, किन्तु 'मालव-संवत्'। आप लोग मुझे सीमा से बाहर ले जा रहे हैं। यह ध्यान रखिये, ऐसा करने से आगामी शताब्दियों में, बहुत संभव है, मुझे मालव गणतन्त्र की भावनाओं पर कुठाराघात करने वाले शासक के रूप में स्मरण किया जाय। मैं संवत् के पक्ष में हूँ, पर उचित यही होगा कि उसका नाम 'मालव संवत्' रखा जाय।

वीरदेव—मुझे क्षमा करें। आपका कथन जनता की भावनाओं के विरुद्ध है। भारतीय परम्परा के अनुसार संवत् व्यक्ति के नाम से ही चलते हैं।

विक्रम—वीरदेव, यह व्यक्तिपूजा अनुचित और निरर्थक है। गणतन्त्र की व्यवस्था में उसके लिए कोई स्थान नहीं है।

विजया—भाइयो! मेरा निवेदन है कि यह विवाद और बढ़ाया न जाय। संवत् के नाम 'मालव-संवत्' और 'विक्रम-संवत्' दोनों रखे जा सकते हैं। भावी पीढ़ियाँ अपनी इच्छा के अनुसार, जिस नाम को अधिक प्रिय समझेंगी, स्वीकार करेंगी। उसे हम रोक नहीं सकते।

विक्रम—(मुसकराकर) विजये! सचमुच तुम बड़ी चतुर हो। भविष्य की कल्पना अभी से करली! देखता हूँ, 'मालव-संवत्' कैसे नहीं चलेगा? मैं उसके प्रचार की व्यवस्था करूंगा। 'मालव संवत्' अमर हो!

अन्य सब—"मालव-संवत्' अमर हो! 'विक्रम संवत्' अमर हो!"

इस प्रकार संवत् प्रवर्त्तन पर 'गणनायक विक्रम' नामक एकांकी हिन्दी में सन् १९४५ में ही लिखा जा चुका था तथा जिसका प्रकाशन

भी तभी, सिंहस्थ के अवसर पर, हो चुका था। यह एकांकी शिल्प की दृष्टि से निर्दोष होते हुए भी प्रथम श्रेणी की कृति नहीं है।[1]

इसी प्रसंग को लेकर श्री० हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने सन् १९५९ में 'संवत् प्रवर्त्तन' नाम से एक पूर्ण नाटक लिखा। एक लघु-कथानक को लेकर सम्पूर्ण नाटक लिखने की चतुराई 'प्रेमी' जी के इस नाटक में देखी जा सकती है। एक अनुभवी लेखक किस प्रकार परिचित और पूर्व लिखित सामग्री को लेकर, अपने निजी ढंग से, पर्याप्त संतोषजनक रचना दे सकता है—इसका उदाहरण 'संवत् प्रवर्त्तन' है। उपर्युक्त दोनों कृतियों की तुलना करने से यह तथ्य स्पष्ट हो जायगा। 'संवत् प्रवर्त्तन' की ऐतिहासिक सामग्री और कल्पना का उल्लेख 'प्रेमी' जी ने 'आत्म-निवेदन' में इस प्रकार किया है।

"मैंने शक क्षत्रप भूमक, नहपाण और नहपाण के जामाता उषवदात को गर्दभिल्ल पुत्र विक्रमादित्य का समकालीन माना है। श्री० जयचन्द्र विद्यालंकार ने श्री जायसवाल जी के मत का अनुमोदन करते हुए नहपाण को उज्जयिनी का शक क्षत्रप माना है। यह भी माना है कि गर्दभिल्ल दर्पण के बाद वह उज्जयिनी का राजा बना था।.... उषवदात नहपाण का जामाता था इसका उल्लेख नासिक के पास गुहा संख्या १० के बरांडे की दीवार पर छत के नीचे उसके एक लेख से सिद्ध है जिसमें उसने स्वयं ही अपने आपको राजा क्षहरात क्षत्रप नहपाण का जामाता लिखा है। उषवदात नहपाण का जामाता भी था और राजकाज में सहायक भी था। उषवदात के लेख में ही एक जगह उल्लेख है—'भट्टारक की आज्ञा पाकर वर्षा ऋतु में मालमों (मालवों) द्वारा घेरे हुए उत्तमभाद्र को छुड़ाने आया हूँ।' इससे सिद्ध है कि मालवों के साथ जो संघर्ष शकों का हुआ उसमें उषवदात ने

१. देखिये—'हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास' (थीसिस)—ले० डा० रामचरण महेन्द्र।

भाग लिया। इसलिये उषवदात को गर्दभिल्ल दर्पण के पुत्र विक्रमादित्य का समकालीन मानकर अपने इस नाटक का एक पात्र मैंने बना लिया है। मैंने अपने इस नाटक में भर्तृहरि को भी एक पात्र रखा है। भर्तृहरि की भी प्रचलित कथा में ऐसा उल्लेख है कि विक्रमादित्य से पहले वह ही उज्जयिनी पर राज्य करते थे और विक्रमादित्य उनके मन्त्री थे। जब भर्तृहरि ने राज्य छोड़ा तब विक्रमादित्य ने राज्य भार सम्हाला। अनुश्रुतियों में विक्रमादित्य के छोटे भाई भर्तृहरि का जहाँ-तहाँ उल्लेख आता है। कहीं-कहीं यह भी उल्लेख आता है कि भर्तृहरि गर्दभिल्ल दर्पण की शूद्रा दासी के पुत्र थे। कुछ भी हो मैंने भर्तृहरि को गर्दभिल्ल दर्पण की शूद्रा दासी से उत्पन्न पुत्र मान लिया है और विक्रम ने उन्हें ही शकों के उच्छेद के पश्चात् मालव प्रदेश का प्रथम गणपति बनवाया ऐसी मैंने कल्पना की है जिससे भर्तृहरि की कथा और विक्रमादित्य की कथा में विरोध पैदा न हो। अनुश्रुतियों में विक्रम की एक पत्नी मलयावती का उल्लेख आता है। एक सेनापति चन्द्र का उल्लेख आता है—इन्हें मैंने नाटक में ले लिया। अनुश्रुतियों के बेताल को मैंने विक्रम का बचपन का साथी बना दिया है।"

'प्रेमी' जी के इस वक्तव्य का अध्ययन प्रस्तुत पुस्तक के 'अनुश्रुति और इतिहास' शीर्षक अध्ययन की, प्रायः संकलित, प्रामाणिक सामग्री को सामने रखकर किया जाय।

नाटक के 'संवत् प्रवर्तन' नाम के बारे में प्रेमीजी इसी 'आत्म निवेदन' में आगे लिखते हैं "विक्रमादित्य ने संवत् चालू करते समय अपना नाम उसके साथ जोड़ना उचित नहीं समझा था। उसने व्यक्ति को नहीं घटना को प्रधानता दी थी, मैंने भी नाटक के नामकरण में व्यक्ति को प्रधानता न देकर घटना को ही प्रधानता देकर इसका नाम 'संवत् प्रवर्तन' रखा है।" प्रेमीजी ने जो उचित या अनुचित समझा वहाँ तक तो ठीक है पर विक्रमादित्य ने क्या समझा था इसे सम्भवतः

उन्होंने 'बेताल' की सहायता से ही जाना होगा ! वास्तव में 'संवत् प्रवर्तन' की घटना विक्रम का सशक्त चरित्र-चित्रण किये बिना उभर ही नहीं सकती। प्रेमीजी विक्रम के चरित्रांकन को गौण स्थान देते हैं और 'संवत् प्रवर्तन' की घटना को प्रमुख। शायद प्रेमीजी अपने को 'जनतंत्र' का समर्थक मानते हों। पर किसी व्यक्ति के यथार्थ चरित्र-चित्रण को जनतंत्र पर आघात पहुंचाने वाला समझना हास्यास्पद धारणा है। संवत् प्रवर्त्तन का प्रसंग जितना शोध का विषय है—किसी गंभीर लेख का विषय है; उतना नाटक का कदापि नहीं। नाटक का विषय तो विक्रम-चरित्र ही हो सकता है। फिर प्रस्तुत नाटक में संवत् प्रवर्त्तन के बारे में भी प्रेमीजी ने कोई नई उद्भावना नहीं की। 'कृत-संवत्' का जो अर्थ उन्होंने ग्रहण किया है वह उनका अपना नहीं है। इतिहासकार के रूप में प्रेमीजी का कोई अस्तित्व नहीं। वे मात्र नाटककार हैं। उन्हें नाटक ही लिखना चाहिए था; संवत् प्रवर्तन का इतिहास नहीं। पुस्तक के मुख पृष्ठ पर उपशीर्षक दिया गया है, "शकारि विक्रमादित्य के सम्बन्ध में ऐतिहासिक नाटक।" इसके स्थान पर होना चाहिए था "संवत् प्रवर्तन की घटना के सम्बन्ध में अनुमानाधृत काल्पनिक नाटक !"

'संवत्-प्रवर्त्तन' : वस्तु विन्यास

'संवत्-प्रवर्त्तन' तीन अंकों का नाटक है। जिनमें क्रमशः सात, पांच और चार दृश्य हैं। इसमें शकों को उज्जयिनी से हटा देने के प्रयत्न; फलस्वरूप शकों की पराजय एवं विजय के उपलक्ष्य में नये संवत् के प्रवर्त्तन की कथा है।

प्रथम अंक

आचार्य कालक की बहन सरस्वती, विक्रम और बेताल प्रथम दृश्य में आते हैं। इस दृश्य में महत्त्वपूर्ण भूमिका सरस्वती की ही है। विक्रम और बेताल अपनी वास्तविक स्थिति से अपरिचित हैं। सरस्वती उनके जीवन से सम्बन्धित रहस्य के उद्घाटन के निमित्त एक नाटक का आयोजन करती है। प्रथम दृश्य का प्रारम्भ पर्याप्त नाटकीय है। जलते हुये दीपों की थाली लेकर युवती सरस्वती का प्रवेश, विक्रम और बेताल का आकस्मिक आना, और फिर विक्रम और बेताल का सरस्वती को न देखना एवं इसी स्थिति में विक्रम की तलवार का सरस्वती की थाली से टकराना; फलस्वरूप दीपों का बुझकर गिर जाना—स्वाभाविक और नाटकीय चमत्कार से युक्त है। सरस्वती के कार्य-कलापों और चेष्टाओं में भी उत्कृष्ट नाट्य-कला के दर्शन होते हैं। उसका अन्तर्द्वन्द्व प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया गया है। सरस्वती जो रहस्यपूर्ण वार्तालाप करती है उससे इस दृश्य में औत्सुक्य का गुण आ गया है। इस प्रकार इसमें संदेह नहीं, नाटक का प्रारम्भ आकर्षक और काव्यात्मक है।

दूसरे दृश्य में उपर्युक्त प्रस्तावित नाटक का दृश्य हैं। इस प्रकार नाटक में एक और नाटक का समावेश किया गया है। यह दृश्य गर्दभिल्ल-दर्पण और आचार्य कालक से सम्बन्धित है। गर्दभिल्ल, उज्जयिनी के राजभवन के पानगृह में, आनन्द में मग्न, सर्वप्रथम सामने आता है।

जहां नर्तकी मधुमती है; मदिरा है। गर्दभिल्ल के साथ उसके अग्रामात्य, सेनापति एवं कुछ सभासद भी हैं। अग्रामात्य को छोड़ शेष सभी, गर्दभिल्ल के विलास और आनन्द में सम्मिलित हैं। अग्रामात्य गर्दभिल्ल के विलासी जीवन और आचरण से असंतुष्ट है। वह उसे प्रबोध भी देता है, पर गर्दभिल्ल पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह राग-रंग में मस्त है। नृत्य, गीत और मदिरा पान के मध्य आचार्य कालक जैन धर्मावलम्बियों की भीड़ के साथ वहाँ पहुँचते हैं। गर्दभिल्ल कालक को भीतर आने की अनुमति देता है। कालक अपनी भगिनी साध्वी सरस्वती के उसके द्वारा किये गये अपहरण की बात करता है और उसे समझाता है। प्रायश्चित करने को कहता है। धमकी भी देता है। पर, गर्दभिल्ल अपने कुकर्म से विरत होना नहीं चाहता। इस पर दोनों में कटु वार्तालाप हो जाता है। आचार्य कालक उन्माद की स्थिति में गर्दभिल्ल की प्रतारणा करता है और उसी भावावेश में चला जाता है। इस प्रकार, इस द्रश्य से विक्रम और बेताल ही नहीं, सभी प्रेक्षक उज्जयिनी नरेश गर्दभिल्ल, आचार्य कालक और साध्वी सरस्वती से संबंधित प्रमुख घटना से परिचित होते हैं। सम्पूर्ण द्रश्य अर्थोपक्षेपक है। इस द्रश्य में आचार्य कालक के अंतिम संवाद का कुछ अंश अन्यत्र से उद्धृत है ("गर्दभिल्ल दर्पण राजा है तो क्या ?.....यदि मैं शून्य देवल में सोता हूँ तो क्या ?"); पर उसे नाटककार ने अपने निजी वाक्यों के रूप में ही प्रस्तुत किया है।[1] दूसरा द्रश्य आधुनिक चित्रपट की टेकनीक पर लिखा गया है। इससे नाटक के विकास में कोई सहायता नहीं मिलती; केवल प्रस्तावना भाग का विस्तार बढ़ता है। दूसरे, विक्रम और बेताल से गुप्त रखकर ऐसे नाटक की आयोजना सरस्वती कर सकी; यह ज़रा कम विश्वसनीय है। फिर भी, अपने में यह द्रश्य पूर्ण और नाटकीय है।

---

१. देखिये—आचार्य कालक की कथा (परिच्छेद ४)

तीसरे द्रश्य में उपर्युक्त नाटक की विक्रम और बेताल पर प्रतिक्रिया व्यक्त हुई है। यहीं विक्रम को विदित होता है कि गर्दभिल्ल उसके पिता थे। तीसरे द्रश्य से नाटक की वस्तु गठन पर बड़ा विपरीत प्रभाव पड़ा है। शुरू के दो द्रश्यों में नाटक की जो उठान है वह यहाँ समाप्त हो गई है। नाटक के खेले जाने के सम्बन्ध में सरस्वती का स्पष्टीकरण, विक्रम का यह जानकर भी कि गर्दभिल्ल उसके पिता थे; उसपर किसी आकस्मिक जानकारी जनित विस्मय भाव न बताना आदि से यह द्रश्य कलाहीन और दोष युक्त बन जाता है। अन्त में सरस्वती का यह कथन, "तुम्हें तुम्हारे कर्तव्य का ज्ञान कराने के लिए ही मैंने आज इस नाटक का आयोजन किया है।"—नाटक के कलात्मक सौन्दर्य को और भी आघात पहुँचाता है। इस प्रकार तीसरा द्रश्य शिथिल और अनाटकीय है।

चौथे द्रश्य में वही द्वितीय द्रश्य के नाटक का दूसरा टुकड़ा प्रस्तुत किया गया है। इस द्रश्य में पार्शकुल (फ़ारस) के एक सागकुल के डेरे का चित्र है, जहाँ भूमक, नहपाण एवं अन्य साहि तथा आचार्य कालक उपस्थित हैं। इस द्रश्य में राजाधिराज मिथ्रदात से भयभीत शक साहियों को आचार्य कालक भारत में आमंत्रित करते हैं और उन्हें भारत का राजा बनाकर रखने का वचन देते हैं। शक साहि कालक के सहयोग को स्वीकार करते हैं। इस द्रश्य में शकों की तत्कालीन स्थिति और आचार्य कालक से उनकी भेंट का विवरण है, जो बहुत कुछ इतिहास सम्मत है। इस द्रश्य की घटना से विक्रम पूर्व परिचित है; जैसाकि वह दूसरे द्रश्य में ही कई स्थलों पर कहता है "आचार्य कालक स्वयं पथ भूल गये थे।..किन्तु आचार्य कालक पथ से भटक गये यह भी मुझे कहना पड़ता है।....(सरस्वती से) केवल एक भाई था (कालक) जो क्रोध में उन्मत्त होकर स्वयं पिशाच बन गया।....लेकिन फिर भी उन्हें विवेक से हाथ नहीं धोना चाहिए था।" आदि। विक्रम कोई अबोध शिशु तो इस समय नहीं हैं। अपने युग की इतनी बड़ी घटना से उसका और बेताल का परिचित होना स्वाभाविक है, भले ही वे सम्पूर्ण वस्तु-

स्थिति से अवगत न हों। इस प्रकार चौथे द्रश्य की उपादेयता मात्र प्रेक्षकों के लिये हो सकती है। विक्रम और बेताल के लिए नहीं। दूसरे सरस्वती को घटना की इतनी विस्तृत जानकारी होना भी अविश्वसनीय है। यदि तीसरे द्रश्य का समावेश न किया गया होता तो यह द्रश्य अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता।

पाँचवे द्रश्य में वही तीसरे द्रश्य की-सी पुनरावृत्ति है। बेताल, सरस्वती और विक्रम इस द्रश्य में पूर्व द्रश्य की चर्चा नहीं करते। दूसरे द्रश्य के समान उनपर चौथे द्रश्य की कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। सरस्वती द्वारा प्रस्तुत नाटक की कथा की श्रृंखला टूट जाने की बात बेताल कहता है; पर इससे 'संवत् प्रवर्तन' की कथा की श्रृंखला भी टूटती है। पूर्व द्रश्य की प्रतिक्रिया ही यदि चित्रित की जाय तब भी गनीमत है, पर यहाँ तो विक्रम, बेताल और सरस्वती कला और साहित्य की अप्रासंगिक चर्चा करने लगते हैं, जो नितान्त असम्बद्ध प्रतीत होती है। इस प्रकार नाटक का कथानक प्रथम-अंक में विश्रृंखल है।

छठा द्रश्य फिर द्वितीय और चतुर्थ द्रश्यों के समान अर्थोपक्षेपक है। सरस्वती द्वारा प्रस्तुत नाटक का यह तीसरा द्रश्य है। इसमें गर्दभिल्ल दर्पण, अग्रामात्य, सेनापति और कुछ सभासद शक-आक्रमण और आचार्य कालक के शकों से मिलकर प्रतिरोध लेने के षड्यंत्र पर विचार करते हैं। यह द्रश्य अनावश्यक प्रसंग गर्भत्व से परिपूर्ण है। विस्तार भी इसका अधिक है। अग्रामात्य राजा गर्दभिल्ल को बार-बार समझाता है। उसे नेक रास्ते पर लाने का प्रयत्न करता है, पर असफल रहता है। अंत में गर्दभिल्ल शकों से युद्ध करने के साथ-साथ जैन-समुदाय के विनाश के लिए भी कटिबद्ध होता है।

यह अन्तर्नाटक इतना बोझिल हो जाता है कि सातवें द्रश्य में स्वयं विक्रम कह उठता है,"मैं समझता हूँ हमें नाटक को अंत तक देखने में समय नष्ट करने की आवश्यकता नहीं। मा, आप संक्षेप में शेष

वृतान्त बता देने की कृपा करें।" विक्रम के विवेक से अर्थोपक्षेपक तो समाप्त हो जाते हैं; पर शेष वृत्तान्त संक्षेप के स्थान पर बड़े विस्तार और असम्बद्ध सामग्री के साथ प्रस्तुत किया जाता है। असम्बद्ध विवरण को लक्ष्य कर इस दृश्य में एक स्थल पर बेताल कहता है, "किसी सीमा तक तुम्हारा कथन सत्य के निकट है किन्तु इस विवाद में हमें कथा के सूत्र को नहीं तोड़ना चाहिए।" नाटककार ने अपनी दुर्बलता को छिपाने की जो चतुराई बरती है; वह उसे और हास्यास्पद बनाती है। नाटक में पात्रों के माध्यम से इस प्रकार सफाई देते चलना कला हीनता का द्योतक है। सातवें दृश्य के अन्त में विक्रम और बेताल प्रतिज्ञा करते हैं कि हम जननी जन्मभूमि को स्वाधीन करने के लिए अपने जीवन की आहुति देंगे। यहाँ प्रथम अंक समाप्त हो जाता है।

नाटक के प्रथम अंक में वस्तु-विन्यास का निरूपण भाग आता है। 'संवत्-प्रवर्त्तन' के प्रथम-अंक में परिस्थिति और उद्देश्य का निरूपण हुआ अवश्य है; पर वस्तु की गठन शिथिल और अनाकर्षक हो गई है। दूसरे यह कोई आवश्यक नहीं कि प्रथम-अंक में मात्र निरूपण भाग ही आए—अवरुन्धन भाग भी उसमें समाविष्ट हो सकता है। पर, 'संवत्-प्रवर्त्तन' के निरूपण अथवा प्रारम्भिक भाग का अवांछित विस्तार मिलता है। प्रस्तुत नाटक का प्रथम-अंक विस्तार में सबसे बड़ा है—इसमें कुल सात दृश्य हैं। इस प्रकार सात दृश्यों में नाटक का प्रारम्भिक भाग समाप्त हुआ है। इससे वस्तु-विन्यास का संतुलन बिगड़ गया है और नाटक की गतिशीलता समाप्त हो गई है।

प्रथम-अंक में जो अर्थोपक्षेपक हैं, उन्हें हम प्रासंगिक कथा के अन्तर्गत स्थान नहीं दे सकते। गर्दभिल्ल, आचार्य कालक और नहपाण से सम्बन्धित पूर्व घटित प्रसंग आधिकारिक कथा के विकास में कोई सहयोग नहीं देते। उन्हें विष्कम्भक नामक अर्थोपक्षेपक का ही रूप समझना चाहिये। भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार प्रथम-अंक में अवस्थाओं, अर्थ प्रकृतियों और संधियों की स्थिति भी 'संवत्-प्रवर्त्तन' में देखी जा

सकती है। इस अंक में आरम्भ नामक अवस्था मिलती है। फल की इच्छा विक्रम की वह प्रतिज्ञा है जहाँ वह जननी जन्मभूमि को स्वाधीन करने का प्रण करता है। बीज नामक अर्थ-प्रकृति की स्थिति स्पष्ट है। विक्रम और उसके साथियों के दृढ़ निश्चय तथा शौर्य-शक्ति साहस आदि के प्रदर्शन से फल की सम्भावना प्रेक्षकों को होती है। पर, आरम्भ नामक अवस्था का बीज, नामक अर्थ प्रकृति से संयोजन ठीक न होने के कारण मुख-संधि कथानक में कोई चत्मकार उत्पन्न नहीं कर सकी है। इस प्रकार प्रथम-अंक, अपने समग्र रूप में, अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करने में सफल सिद्ध नहीं होता। कथा को नाट्य-शरीर अवश्य मिला है, पर उसकी बनावट में कोई सौन्दर्य नहीं है। प्रथम-अंक. नाटक का मात्र आभास देता है। पात्रों के माध्यम से, द्रश्य-निर्देशों के साथ, कथा प्रस्तुत करदी गई है।

द्वितीय अंक

प्रथम-अंक यद्यपि विस्तार की दृष्टि से नाटक का सबसे बड़ा अंक है; पर उसमें मात्र स्थिति का ही उद्‌घाटन हुआ है। नाट्य-कथा का विकास नहीं के बराबर है। सात द्रश्यों में प्रथम और सप्तम ही मूल नाटक से सीधा सम्बन्ध रखते हैं। दूसरे, इस अंक में सरस्वती, विक्रम और बेताल ही नाटक के पात्र हैं। इन तीनों पात्रों का संतोषजनक परिचय प्रथम-अंक में उपलब्ध होता है। इन्हीं की कथा नाटक की मुख्य कथा है—आधिकारिक कथा है। ये ही तीन पात्र नाटक में आदि से अन्त तक दिखाई देते हैं।

दूसरे अंक के प्रथम द्रश्य में सर्वप्रथम एक नये, पर प्रमुख पात्र से हमारा परिचय होता है—और वह है भर्तृहरि। क्षिप्रातट के एक एकांत स्थल पर, संध्या समय, एक शिला पर बैठा हुआ, एक भोज-पत्र पर, वह कविता लिख रहा है—'पंथी पथ में रुक मत जाना!' तभी वहाँ सहसा सरस्वती, विक्रम और बेताल का प्रवेश होता है। भर्तृहरि से ये तीनों अपरिचित हैं। भर्तृहरि भी इन्हें नहीं जानता।

वार्तालाप के मध्य परिचय प्रकट होता है। भर्तृहरि अपने को स्वर्गीय महाराज गर्दभिल्ल दर्पण का, उनकी एक शूद्रा दासी से उत्पन्न पुत्र बताता है। विक्रम और भर्तृहरि—दोनों भाई, गले मिलते हैं, इस प्रकार विक्रम को अपना अनुष्ठान पूर्ण करने में भर्तृहरि का सहयोग भी मिल जाता है। इस दृश्य में यह बात फिर अविश्वसनीय है कि सरस्वती को यह विदित नहीं है कि भर्तृहरि गर्दभिल्ल की संतान है। सरस्वती प्रथम अंक में जिस नाटक का आयोजन करती है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह अपने समय की समग्र राजनीतिक, सामाजिक, और धार्मिक स्थिति से परिचित है एवं गर्दभिल्ल परिवार के अंतरंग पक्ष को भी जानती है। फिर, भर्तृहरि से उसका सर्वथा अनभिज्ञ बताना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। विक्रम अवश्य भर्तृहरि से अपरिचित हो सकता है, जैसा कि 'नाटककार ने उसके पालन-पोषण की कथा कल्पित की है। दूसरे, यह बात भी विचारणीय है कि बिना किसी प्रमाण के सरस्वती और विक्रम भर्तृहरि को गर्दभिल्ल का पुत्र मान लेते हैं। जबकि स्वयं भर्तृहरि का कथन है, "सुना है कि मैं एक राजा का पुत्र हूँ।" यहाँ, 'सुना है'—शब्दों से इस बात की और पुष्टि होती है कि स्वयं भर्तृहरि को अपने पिता के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी नहीं है। आगे भर्तृहरि का यह कथन, "आज न जाने क्यों यह सब मेरे मुँह से व्यक्त हो गया अन्यथा मैंने अपने इतिहास को अन्धकार में छुपा रखा था और मैं चाहता हूँ कि आप लोग भी मेरा वास्तविक परिचय न दें।" पर, इससे कोई बात सँभलती नहीं। इस प्रकार तो कोई भी अपने को गर्दभिल्ल-पुत्र बता सकता था। भर्तृहरि की ऐतिहासिकता विक्रम के समान ही है। पता नहीं, उसके कुल-वंश के बारे में इस प्रकार की योजना नाटककार ने क्यों की। इतिहास विषयक कोई नई धारणा प्रस्तुत करना यदि नाटककार का उद्देश्य होता तब तो यह सब ठीक था; पर ऐसा न कोई उद्देश्य है और न किसी नये तथ्य का उद्घाटन ही हुआ है।

दूसरे द्रश्य में शक-पक्ष का चित्रण है। नहपाण, आचार्य कालक, उषवदात (नहपाण का जामाता), और अग्रामात्य, सेनापति एवं कुछ सैनिक उज्जयिनी की राज-सभा स्थल में उपस्थित हैं। इस द्रश्य में आचार्य कालक और नहपाण का संघर्ष चित्रित किया गया है। कालक शक-शासन से संतुष्ट नहीं है। गर्दभिल्ल का विनाश करवाके उसकी प्रतिहिंसा तो शांत हो गई; पर शक-शासन की उसकी भावी-कल्पना साकार नहीं हो सकी; यद्यपि शकों को जैन-धर्म में दीक्षित किया जा चुका है। नहपाण और कालक-वार्ता क्रोध और संघर्ष में परिणत हो जाती है; यथा—नहपाण का कथन, "आचार्य कालक, यह मत भूलो कि तुम किसके सामने खड़े हो। एक क्षत्रप अपमान करने वाले पर दया नहीं करेगा।...कालक, आज तुम अपनी मृत्यु साथ लेकर आये हो।" आदि। आचार्य कालक का परिवर्तित रूप इस द्रश्य में दर्शकों के सम्मुख आता है। इसी द्रश्य में शक-सैनिक दशपुर से लाये जाने वाले राजकोष के लूट लिये जाने की खबर देते हैं। तदुपरांत उषवदात, नहपाण और शक-सेनापति अपनी स्थिति पर विचार करते हैं। प्रस्तुत द्रश्य में एक मोटी भूल यह है कि नाटककार ने आचार्य कालक के प्रस्थान का संकेत, यथास्थान नहीं दिया है। वैसे इस द्रश्य से प्रेक्षकों के सम्मुख बाह्य-संघर्ष की भूमिका स्पष्ट हो जाती है। पर, शत्रु-पक्ष को सशक्त रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है। विक्रम-पक्ष के महत्त्व को उभारने के लिये शत्रु-पक्ष को सशक्त चित्रित करना जरूरी था।

तीसरा द्रश्य पर्याप्त नाटकीय है; जहाँ अचानक, आचार्य कालक की अपनी बहन सरस्वती से भेंट होती है। सरस्वती, विक्रम, भर्तृहरि और बेताल आदिवासियों के छद्म-वेश में लकड़ियाँ बेचने नगर में जा रहे हैं कि उनकी भेंट कालक से होती है। सरस्वती अपने भाई को पहचान लेती है और उसके परिवर्तित रूप से संतुष्ट होती है। इस प्रकार विक्रम-पक्ष में आचार्य कालक भी आ जाते हैं। इसी बीच किसी स्त्री की आर्त्त पुकार सुनाई देती है—'बचाओ, बचाओ!' विक्रम, बेताल

और भर्तृहरि तुरन्त उस दिशा में निकल जाते हैं। यह स्त्री मालव कन्या मलयावती है जिसे शक-सैनिक उठा ले जाना चाहते थे। मलयावती संसार में अकेली है। खेती उसकी आजीविका है। वैसे वह आयुधजीवी मालवों की कन्या है। निदान, वह अपने त्राणकर्त्ता विक्रम और उसके साथियों के गुट में सम्मिलित हो जाती है। दूसरे द्रश्य में उषवदात नामक नये पात्र का प्रवेश हुआ था—यहाँ मलयावती का। एक सौ दस पृष्ठ के नाटक 'संवत् प्रवर्त्तन' के सत्तरवें पृष्ठ पर मलयावती सर्वप्रथम हमारे सामने आती है। मलयावती नाटक के अन्त में विक्रम की पत्नी बनती है। उसका इतने विलम्ब से नाटक में प्रवेश उचित नहीं।

चौथा द्रश्य उज्जयिनी की राजवाटिका का है; जहाँ नहपाण, उषवदात और शक-सेनापति भ्रमण करते हुए वार्तालाप में व्यस्त हैं। वे अपनी स्थिति का सिंहावलोकन कर, वर्त्तमान के आधार पर, मालवों से भावी संघर्ष के लिए कटिबद्ध होते हैं। इस द्रश्य में कोई विशेषता नहीं। नाटक में यदि यह द्रश्य न भी होता तो उसका रचना पर कोई असर नहीं पड़ता।

दूसरे अंक का पाँचवाँ और अन्तिम द्रश्य विक्रम-पक्ष से सम्बन्धित है। एक गुहा में अनेक मशालें जलाकर विक्रम के अनेक साथी मतभेदों को भूल कर शकों के उच्छेद का अपना दृढ़ संकल्प दोहराते हैं। अनेक व्यवसायी और कर्मकार वर्गों के श्रेणिमुख्य भी यहाँ उपस्थित हैं; जो शकों के विरुद्ध विक्रम का साथ देने का वचन देते हैं। दूसरे अंक का अन्त भर्तृहरि के एक गीत से होता है, 'हम स्वाधीन देश के वासी बंधन नहीं सहेंगे।' इस द्रश्य में भी एक नये पात्र का समावेश हुआ है—मालव सेनापति चन्द्र। इस प्रकार नये-नये पात्रों के प्रवेश का क्रम दूसरे अंक के अन्त तक चलता है।

द्वितीय अंक में अवरुन्धन और उत्कर्ष की स्थिति पर कथानक

पहुँच जाता है। यहाँ दो विरोधी वर्गों के पारस्परिक संघर्ष की भूमिका ही नहीं बनती; संघर्ष स्पष्ट होकर चरम-सीमा की ओर बढ़ता भी दिखाई देता है। कार्य-व्यापार की दृष्टि से द्वितीय-अंक का नियोजन संतोषजनक है।

भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार यत्न और प्राप्त्याशा की स्थितियाँ देखी जा सकती हैं। यत्न में उद्देश्य-पूर्ति का प्रयत्न होता है। विक्रम अपने साथियों के सहयोग से इस दिशा में रत दिखाया गया है। उद्देश्य-पूर्ति की आशा बँधना ही प्राप्त्याशा की अवस्था है। विक्रम को इसी अंक में भर्तृहरि, आचार्य कालक, मलयावती, एवं व्यवसायी व कर्मकार वर्गों का सहयोग प्राप्त होता है; जिससे विजय की आशा बँधती है। कोष को लूटने और मलयावती की मान-रक्षा की घटनाओं से भी विक्रम-पक्ष की विजय की सम्भावना बलवती बनती है। अर्थ-प्रकृतियों में बिन्दु और पताका द्रष्टव्य हैं। नाटक का बीज इस अंक में विन्दु का विस्तार पाता है। फल की सम्भावना आकार ग्रहण करती जाती है। द्वितीय अंक में भर्तृहरि की कथा प्रासंगिक कथा कही जा सकती है; जिसे पताका अर्थ-प्रकृति के नाम से अभिहित किया जाता है। पताका प्रासंगिक कथा विस्तृत होती है और अन्त तक या बहुत दूर तक मुख्य-कथा का साथ देती है। भर्तृहरि की कथा इस शर्त की पूर्ति करती है। संधियों के अन्तर्गत प्रतिमुख और गर्भ सधियों की संयोजना है। मुख-संधि में निहित बीज यहाँ प्रतिमुख और गर्भ संधि में अंकुरित व विकसित हो जाता है। भावी घटनाएँ गर्भ में अपना अस्तित्व बना लेती है। संवत्-प्रवर्तन का द्वितीय-अंक, प्रथम अंक के समान, शिथिल और लचर नहीं है।

तृतीय अंक

तृतीय अंक का प्रथम दृश्य उज्जयिनी के राजमहल की वाटिका में घूमते हुए नहपाण, उषवदात और शक सेनापति के वार्तालाप से

होता है। इसमें, मालव निवासियों का हृदय जीतने के लिए उषवदात ने प्रारम्भ में जो कार्य किये हैं उनका ब्यौरा है, विक्रम-पक्ष की गतिविधियों पर विचार-विमर्श है, और विक्रम के विनाश का शक-पक्ष द्वारा संकल्प चित्रित है। यह द्रश्य नीरस और बोझिल वार्तालाप से भरा हुआ है। नाटक का अन्तिम अंक है और उसमें एक ऐसा द्रश्य; जो कथा-विकास में कोई योग नहीं देता!

दूसरे द्रश्य में विक्रम और मलयावती के पारस्परिक आकर्षण और प्रेम का बड़ा ही मनोरम और संयत चित्रण किया गया है। 'संवत् प्रवर्त्तन' का यह प्रसंग भी प्रथम-अंक के प्रथम-द्रश्य के समान नाटकीय कौशल और सौन्दर्य से युक्त है। प्रेम का भावावेश अत्यधिक काव्यात्मक और सरस ढंग से, इस द्रश्य में, प्रस्तुत किया गया है। मानव-हृदय का, स्त्री और पुरुष का, रागमय स्पन्दन विक्रम और मलयावती के संवादों में बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है। इस द्रश्य के अन्त में भर्तृहरि के प्रवेश से सामाजिकों की रसानुभूति में यद्यपि बाधा आती है; पर प्रेम-प्रसंग की संक्षिप्ति से मलयावती में उनका आकर्षण द्विगुणित हो जाता हैं। इसी में उसकी सफलता निहित है। वहाँ कोई रसाभास नहीं है—स्वाभाविक घटना-व्यापार है।

तीसरे द्रश्य में फिर नहपाण, उषवदात और शक सेनापति आते हैं। उद्यान में घूम-घूम कर वार्तालाप करते हुए! शक-पक्ष के अधिकारी इसी प्रकार मंत्रणा तथा परिस्थितियों का निरीक्षण करते बताये गये हैं! द्रश्य के अन्त में यह जरूर कहलवा दिया जाता है—'सेनापति तुम शीघ्र ही सेना के उच्च अधिकारियों को लेकर महल में उपस्थित हो। अच्छा तो अब हम लोग यहाँ से चलें।' (पहला द्रश्य) अथवा 'आओ तुम सब हमारे साथ महल में आओ। वहाँ बैठकर हम अच्छी तरह विचार कर सकेंगे।' (तीसरा द्रश्य)। प्रस्तुत द्रश्य में उषवदात, एक शक सैनिक और एक गुप्तचर के माध्यम से युद्ध के विवरण दिये गये

हैं; जिसमें शकों की पराजय और विक्रम के शौर्य का चित्रण है। युद्ध का दृश्य रंगमंच पर दिखाना, भारतीय नाट्य-शास्त्र में वर्जित है। पर, यह जरूरी नहीं कि प्रेमीजी के लिए भी वर्जित हो। जो हो, उन्होंने युद्ध विषयक समाचार सूच्य-संवादों के माध्यम से ही दिये हैं; जो उचित भी है।

शकों की पराजय इतनी सुगमता से प्रदर्शित की गई है, शक-सैनिकों के युद्ध-कर्मों को इतना घटिया बताया गया है, एवं शक-पक्ष के मुख से विक्रम और विक्रम-पक्ष की वीरता, शौर्य, संगठन, साहस, कौशल तथा उनके साधनों का बखान इतना करवाया गया है कि सारी घटना हास्यास्पद बन जाती है। यह कैसा युद्ध? इसमें विक्रम का क्या महत्त्व प्रदर्शित हुआ? शत्रु-पक्ष को सबल रूप में चित्रित किये बिना; उसकी एक-दो स्थलों पर आंशिक विजय बताये बिना नायक-पक्ष का महत्त्व निखर ही नहीं सकता। पर, प्रेमी जी को इसकी कोई चिन्ता नहीं। वे तो सीधी-सादी कथा कह रहे हैं; इतिहास और अनुश्रुतियों का ब्यौरा प्रस्तुत कर रहे हैं, कोई नई बात नहीं कह रहे; अन्य विद्वानों के मतों, धारणाओं और मान्यताओं को मात्र वार्तालाप का परिधान पहना रहे हैं। पात्रों के नाम और अन्य बाहरी नाटकीय आडम्बर हटा दीजिये; पूरा नाटक एक अच्छा-खासा पिष्टपेषण से समृद्ध लेख बन जायगा। कला से उन्हें कोई सरोकार नहीं; क्योंकि वे कलाविद् नहीं; मात्र नाटककार हैं। जन-साधारण के लिए वे लिखते हैं; और इस दृष्टि से उन्होंने 'संवत् प्रवर्त्तन' एक अच्छा नाटक लिखा है।

नाटक के अन्तिम दृश्य में कथानक छलांग लगाता है। यह दृश्य उज्जयिनी की राज सभा भवन का है। विक्रम, भर्तृहरि, बेताल, सरस्वती, आचार्य कालक, चन्द्र, मलयावती एवं अनेक श्रेणिश्रेष्ठ उपस्थित हैं। सिंहासन पर कोई नहीं बैठा है। पूर्व कथा, इस योजना से स्पष्ट ही है कि शकों की पराजय हो चुकी है और कुछ मालव, गणपति के

निर्वाचन के लिए सभा कर रहे हैं। पता नहीं, नहपाण, उषवदात व शक-सेनापति का क्या हुआ; मारे गये, या बन्दी है या भाग गये या कहीं किसी उद्यान में टहल रहे हैं! सर्वप्रथम निरंकुश राजतन्त्र और गणतन्त्र पर चर्चा होती है—तय होता है गणपति बनाया जाय। कोई राजा नहीं बनेगा। फिर, विक्रम और भर्तृहरि के गणपति बनने के प्रस्ताव आते हैं। भर्तृहरि के गणपति बनने का प्रस्ताव चूँकि विक्रम की ओर से है; अतः वह स्वीकार कर लिया जाता है। भर्तृहरि और विक्रम का जय-जयकार होता है। फिर गणपति की अनुमति प्राप्त करके विक्रम के बाल-सखा बेताल बड़ी समझदारी की बात कहते हैं; नाटक में अन्यत्र भी उनकी यह समझदारी द्रष्टव्य है! बात है, नवीन संवत् के प्रवर्त्तन की। एक ही साँस में बेताल इस नये संवत् का नामकरण भी कर देते हैं—विक्रम-संवत्! कई आवाजें जो पहले विक्रम को गणपति बनाये जाने के लिए हुई थीं; फिर भर्तृहरि को बनाये जाने के लिए हुईं; वे ही आवाजें विक्रम-संवत् के नामकरण पर सुनाई देती हैं और तत्काल बाद ही वे ही आवाजें विक्रम द्वारा सुझाये नाम 'कृत-संवत्' के लिये गूँजती हैं। इस पर, सुयोग्य बेताल महाशय भविष्यवाणी करते हैं, "वीर विक्रमादित्य के आदेश के विरुद्ध जाने का साहस कर ही कौन सकता है; किन्तु मेरा विश्वास है कि देश अपने उद्धारक और प्रेरणा स्रोत वीर विक्रमादित्य के उपकार को भूलेगा नहीं और एक काल आएगा जब भारत इस संवत् के साथ विक्रम के नाम को जोड़ेगा।" बड़े खेद की बात है कि बेताल के इस बात की वहाँ कोई भी प्रतिक्रिया नहीं होती। अनेक आवाजें मूक रहती हैं! और तुरन्त बाद ही चन्द्र 'अपने अमृत वचन की वर्षा करने लगते हैं।' मालव गण विक्रम को मलयावती के द्वारा एक तुच्छ भेंट—एक फूल माला भेंट करते हैं। और फिर गणपति भर्तृहरि के इस कथन पर सब मुसकरा देते हैं—'मेरी आज्ञा से यह फूल माला वरमाला समझी जावे।' अन्त में गणपति भर्तृहरि की इस बात पर सब पाठक

और दर्शक मुसकराते हैं—'अब इसके पश्चात् मालव के गायक-गायिकाएँ मेरी एक रचना उपस्थित करेंगे। (एक यवनी से) यवनी! गायक-गायिकाओं को उपस्थित करो'। पता नहीं, तत्काल गायक-गायिकाएँ कहाँ से आ जाते हैं; शायद गणपति जी ने पहले से तय कर रखे होंगे। उनके आने पर गणपति जी को पुनः कहना पड़ता है, "हाँ, करो प्रारम्भ।" यहाँ नाटककार ने जान बूझकर वाक्य अपूर्ण रखा है। 'मेरी रचना' शब्द इसमें नहीं है। अन्त में गीत गाया जाता है; जिसमें नये संवत् के चालू (!) होने की भी बात है। शायद, विक्रम, भर्तृहरि और बेताल ने मिलकर सारा नाटक पहले से ही तय कर लिया था; तभी तो नये संवत् की बात गीत में आ सकी और बेताल की समझदारी का रहस्य भी प्रकट हो सका! कथा के बाद मालव गणपति और वीर विक्रमादित्य का जय-जयकार होता है। पटाक्षेप।

इस प्रकार, अन्तिम द्रश्य में गणतन्त्र व्यवस्था की स्थापना, गणपति का निर्वाचन, नये संवत् का प्रवर्त्तन और विक्रम-मलयावती की 'ग्रन्थि' सब ज़रा-सी देर में सम्पन्न हो जाती है। इस द्रश्य पर 'गणनायक विक्रम' नामक एकांकी-नाटक की छाया दिखाई पड़ती है। एकांकी-नाटक में स्थानाभाव के कारण उपर्युक्त घटनाओं में से अधिकांश एक द्रश्य में दिखाई जा सकती हैं, पर सम्पूर्ण नाटक में घटनाओं का, एक द्रश्य में, इतना जमघट उसके कलात्मक प्रभाव को क्षीण कर देता है।

वास्तविक नाटक को प्रारम्भ हुए अधिक देर नहीं होती कि उसका अन्त हो जाता है। लगभग चालीस पृष्ठ तो उस नाटक से सम्बन्धित हैं जो सरस्वती प्रथम-अंक में रंगमंच पर प्रस्तुत करती है। चरमोत्कर्ष की स्थिति 'संवत् प्रवर्त्तन' में कहीं भी नहीं दिखाई देती। अन्तिम भाग में अपकर्ष ही अपकर्ष है। संघर्ष उभरा ही नहीं है। विक्रम-शक्ति की विजय की सम्भावना आदि-से-अन्त तक दृढ़ रहती है। शक-पक्ष की शक्ति का मात्र ह्रास ही नीरस ढंग से पाठकों-प्रेक्षकों के सम्मुख आता

है। इस प्रकार औत्सुक्य, जो नाटक का प्राण है, 'संवत् प्रवर्त्तन' में नहीं मिलता। फल की अन्तिम अवस्था के बाद भी नाटक को आगे बढ़ाया गया है। शक-उच्छेद के बाद नये संवत् की स्थापना मात्र पर्याप्त थी। गणतन्त्र व्यवस्था की स्थापना, गणपति भर्तृहरि का निर्वाचन और विक्रम-मलयावती का प्रणय-सूत्र में आबद्ध होना ऐसी घटनाएँ हैं जो नाटक के फल से सम्बद्ध नहीं हैं। इस कारण कथा की एक-निष्ठता पर आघात पहुँचा है। भर्तृहरि को गणपति बनाकर उसे विक्रम के, नायक के, समकक्ष रख दिया गया है। इस प्रकार, 'संवत् प्रवर्त्तन' की कथा-वस्तु की गठन में नाट्य-कौशल का बड़ा अभाव है। उसमें अस्वाभाविक तत्त्वों और असंगतियों को भी देखा जा सकता है; जैसा कि अन्तिम द्रश्य की पूर्व लिखित समीक्षा से सिद्ध है।

भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार, तृतीय द्रश्य में, नियताप्ति और फलागम की अवस्थाएँ देखी जा सकती हैं। नियताप्ति में फल का निश्चय हो जाता है और फलागम में फल-प्राप्ति। इस दृष्टि से 'संवत्-प्रवर्त्तन' के वस्तु-विन्यास में विरोध नहीं मिलेगा; पर पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र के अनुसार चरम-सीमा का अभाव एक बड़ा दोष है; जो नाटक के प्रभाव को समाप्त कर देता है। यदि वस्तु संयोजना में चरमोत्कर्ष की स्थिति नहीं थी तो प्राप्त्याशा नामक अवस्था में विघ्नों का वर्णन विस्तार से अपेक्षित था। फलागम अवस्था के बारे में वही कहा जा सकता है, जो फल (Catastrophe) के बारे में कहा गया है। अर्थ-प्रकृतियों के अन्तर्गत तीसरे द्रश्य में प्रकरी और कार्य की योजना अपेक्षित है। प्रकरी बहुत छोटी-छोटी प्रासंगिक कथाओं को कहते हैं। इस द्रश्य में विक्रम और मलयावती के प्रेम प्रसंग को प्रकरी के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है। कार्य अन्तिम फल को कहते हैं। पर, संवत्-प्रवर्त्तन में अन्तिम फल के बाद भी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुई हैं। संधियों में विमर्श और निर्वहण आयंगी। फल प्राप्ति की पर्यालोचना जैसी चीज 'संवत् प्रवर्त्तन' में नहीं है; अतः विमर्श-संधि

का नियोजन ठीक नहीं कहा जा सकता। कार्य तथा फलागम के मिलन-स्थल पर निर्वहण संधि आती है। पर, नाटक का अन्तिम भाग लटका रह जाता है।

इससे स्पष्ट है कि 'संवत् प्रवर्त्तन' का वस्तु-विन्यास न तो पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुरूप है; और न भारतीय नाट्य-शास्त्र के। पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र की कसौटी पर तो वह एकदम असफल सिद्ध होता है; और भारतीय नाट्य-शास्त्र के तत्त्वों के आधार पर एक कमजोर नाटिका। वास्तव में 'संवत्-प्रवर्त्तन' न चरित्र प्रधान, न वातावरण प्रधान और न घटना प्रधान नाटक है। वह मात्र नाटक का आभास देता है। न्यूनता और अधकचरापन इतना अधिक है कि उसके बीच नाट्य सौष्ठव के दर्शन ही नहीं होते। जब पाश्चात्य नाट्य-शिल्प के सामान्य तत्त्व ही 'संवत् प्रवर्त्तन' में नहीं देखे जा सकते तो उसमें संकलन-त्रय की संयोजना की खोज करना दुराशा मात्र हो ऐसा नहीं। समय, स्थान, और कार्य की एकता के अन्तर्गत—समय की एकता 'संवत् प्रवर्त्तन' में तनिक भी नहीं मिलती। अच्छे-से-अच्छे नाटक के लिए यह जरूरी नहीं कि उसमें समय की एकता का निर्वाह किया जाय। स्थान की एकता 'संवत् प्रवर्त्तन' में अवश्य मिलती है; जो उसका बहुत बड़ा वैशिष्ट्य है। प्रायः सभी घटनाएँ एक ही नगर उज्जयिनी या उसके आसपास के प्रदेश से सम्बन्ध रखती हैं। यह इस नाटक की एक अनुपम उपलब्धि है। कार्य की एकता भी अपने में पूर्ण है। नाटक के नामकरण और उद्देश्य को देखते हुए विक्रम-मलयावती प्रसंग और भर्तृहरि का गणपति बनाया जाना कार्य की एकता को अवश्य कुछ आघात पहुँचाता है। वैसे यह दोनों घटनाएँ मूल कथानक के इतने निकट हैं कि उनके समावेश से कार्य की एकता खंडित नहीं होती है।

'संवत् प्रवर्त्तन' के कथानक-दौर्बल्य का कारण यही है कि नाटककार ने घटना को जिस प्रकार प्रमुखता दी है; उस प्रकार उसकी वस्तु

का संयोजन नहीं किया। विक्रम-चरित्र भी उसका विषय है। दूसरे, यह कोई जरूरी नहीं कि इतिहास की प्रत्येक घटना नाटक का विषय बनने की क्षमता रखती हो। जहाँ तक 'संवत्-प्रवर्त्तन' का सम्बन्ध है वहाँ घटना के पीछे अनुसंधान-वृत्ति भी है। संवत् प्रवर्त्तन की घटना को आधुनिक शोध के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। इस कारण नाटकीय तत्त्व दब गये हैं। कथा-विकास का संतुलन बिगड़ गया है।

'संवत् प्रवर्त्तन': पात्र एवं चरित्र-चित्रण

संवत् प्रवर्त्तन घटना प्रधान नाटक एक बार माना जा कक्ता है; चरित्र-प्रधान नहीं। यह तथ्य नाटककार के वक्तव्य और नाटक के नामकरण से ही सिद्ध नहीं होता; प्रत्युत नाटक में चित्रित प्रमुख पात्रों के चरित्रों से भी स्पष्ट हो जाता है। 'संवत् प्रवर्त्तन' के एक भी पात्र का चरित्रांकन पूर्ण और समुचित नहीं कहा जा सकता। यह तो नितान्त असम्भव है कि नाटक में पात्र न हों और उनकी चारित्रिक रेखाएँ बिना अंकित हुए रह जाएँ। इस दृष्टि से, 'संवत् प्रवर्त्तन' के पात्रों का चरित्र-चित्रण हुआ अवश्य है; यद्यपि नाटककार ने अपने पात्रों के साथ उचित न्याय नहीं किया।

'संवत् प्रवर्त्तन' में पात्रों की संख्या अधिक नहीं है। प्रमुख पात्र कुल ग्यारह हैं; जिनमें मात्र दो स्त्री-पात्र हैं। गौण पात्र अवश्य अधिक हो गये हैं। घटना-प्रधान नाटकों में यह स्वाभाविक भी है। ऐसे पात्रों में कुछ श्रेणि-मुख्य, गायक-गायिकाएँ, शक सैनिक एवं मालव सैनिक हैं। ग्यारह प्रमुख पात्रों में उज्जयिनी नरेश गर्दभिल्ल दर्पण और शक साहि भूमक ऐसे पात्र हैं जो प्रथक-अंक के अर्थोपक्षेपक द्रश्यों से ही संबंध रखते हैं। वे नाटक के मूल कथानक से कोई सीधा संबंध नहीं रखते। इन पात्रों का चरित्रांकन सरस्वती द्वारा प्रस्तुत किये गये नाटक से है। वैसे 'संवत् प्रवर्त्तन' नाटक है—पाठक या दर्शक इस तथ्य को भूल नहीं सकते; पर जब नाटक में एक और नाटक खेला जाने लगता है; तब तो 'नाटक की तथाकथित वास्तविकता का एकदम लोप हो जाता है। गर्दभिल्ल दर्पण और भूमक के अतिरिक्त विक्रम के बाल-सखा बेताल और मालव सेनापति चंद्र की भूमिकाएँ भी साधारण हैं। इन अनेक पात्रों के चरित्रांकन की अपेक्षा तो हम नाटककार से कर ही नहीं सकते। प्रमुख पात्र, इस प्रकार, केवल सात बच रहते हैं—पाँच पुरुष-पात्र और दो स्त्री पात्र। पक्ष और विपक्ष की स्थिति इस तरह

है; पक्ष में विक्रमादित्य, भर्तृहरि, आचार्य कालक, सरस्वती, मलयावती आदि तथा विपक्ष में नहपाण, उषवदात आदि।

नाटक का प्रतिनायक उज्जयिनी का शक क्षत्रप नहपाण है; यह तथ्य तो स्पष्ट है। पर, नाटक के नायक के संबंध में प्रश्न उठ सकता है कि 'संवत् प्रवर्त्तन' का नायक विक्रमादित्य है अथवा भर्तृहरि। शक-विजय के उपरान्त मालव प्रदेश के प्रथम गणपति भर्तृहरि बनाये जाते हैं। इस नाते भर्तृहरि को प्रस्तुत नाटक का नायक माना जा सकता है। संस्कृत नाट्य-शास्त्र में फल के भोक्ता को नायक का पद दिया गया है। 'संवत् प्रवर्त्तन' में भर्तृहरि भले ही मालव प्रदेश के गणपति बनाये गये हों; पर इसका संबंध नाटक के फल से कदापि नहीं है। नाटक का फल शकों को परास्त कर देश को स्वतंत्र करना है। इस फल की प्राप्ति के लिए विक्रम सचेष्ट प्रयत्न करता है और अंत में अपने उद्देश्य में सफल होता है। इस नाते फल प्राप्ति विक्रम को ही होती है। भर्तृहरि, सरस्वती, आचार्य कालक, मलयावती, बेताल आदि का उसे सहयोग मिलता अवश्य है; पर समस्त घटना-चक्र का केन्द्र विक्रम ही है। शत्रु-पक्ष के पात्रों का मुख्य लक्ष्य विक्रम है। फल-प्राप्ति के बाद नाटक का अवांछित विस्तार किया गया है। क्योंकि नाटककार को संवत्-प्रवर्त्तन की घटना को प्रधानता देनी थी। इस तर्क से मूल नाटक का नायक यदि विक्रम है तो अंतिम दृश्य का नायक भर्तृहरि है! पर, क्या अंतिम दृश्य को एक स्वतंत्र नाटक माना जा सकता है? स्पष्ट है, यह सब अर्थहीन है। फिर भर्तृहरि को नायकत्व से किस प्रकार वंचित किया जाय। इस संबंध में दो तथ्य और उभर कर सामने आते हैं। प्रथम तो यह साफ है कि मालव प्रदेश के प्रथम गणपति भर्तृहरि विक्रम के अनुरोध और आग्रह पर ही बनाये जाते हैं; इससे विक्रम का व्यक्तित्व और निखरता ही है। इससे वे नायक के गरिमामय पद पर और सुदृढ़ता से प्रतिष्ठित होते हैं। वह गणपति नहीं बनते। प्रत्युत गणपति से भी श्रेष्ठ बनते हैं। दूसरे संवत् प्रवर्त्तन के

प्रसंग में विक्रम का नाम आता है। बेताल के शब्दों में, "इस नये युग को लाने वाले आदित्य के नाम पर इस संवत् का नाम विक्रम-संवत् रखा जावे।" स्पष्ट है, जिस व्यक्ति के नाम पर संवत् का नामकरण किया जाय वह नाटक का असाधारण और सर्व श्रेष्ठ पात्र ही हो सकता है। अतः विक्रम के नायकत्व में किसी प्रकार का संदेह नहीं रह जाता। जिस प्रकार विक्रम गणपति बनना स्वीकार नहीं करते; उसी प्रकार वह अपने नाम से संवत् प्रवर्त्तन भी नहीं होने देते। विक्रम संवत् के स्थान पर 'कृत-संवत्' स्वीकार करवाते हैं। इस घटना से भी विक्रम का व्यक्तित्व महान् बना है। अतः 'संवत्-प्रवर्त्तन' का नायक यदि कोई माना जा सकता है तो वह विक्रम ही। वैसे 'संवत् प्रवर्त्तन' बहुत कुछ घटना प्रधान नाटक है; चरित्र-प्रधान या नायक वा नायिका प्रधान नहीं।

विक्रमादित्य

विक्रमादित्य 'संवत् प्रवर्त्तन' का नायक है। उससे हम प्रथम दृश्य से ही परिचित हो जाते हैं—नवयुवक, बलिष्ठ शरीर, अंगारों की तरह चमकती हुई बड़ी-बड़ी आँखें, लम्बी भुजाएँ और चौड़ा वक्ष। प्रभावशाली व्यक्तित्व की आभा में अद्भुत दिव्यता। मंच पर आते ही वह अपनी कमर में लटकी हुई तलवार को सहसा म्यान से निकलता और घुमाता है। ऐसा करने में तलवार दूसरी तरफ से आती हुई सरस्वती के हाथ की थाली से टकरा जाती है। थाली गिर पड़ती है और दीपक बुझ जाते हैं। इस घटना पर सरस्वती कहती है, "जिसके हाथ में तलवार होती है वह दूसरों के अस्तित्व को भूल ही जाता है। तलवार मनुष्य को अन्धा कर देती है।" विक्रम तुरन्त उत्तर देता है, "किन्तु मां, तुम्हारे विक्रम को तलवार अन्धा नहीं बना सकती। विक्रम तो अन्धों को आँखें देने के लिए तलवार बाँधता है।" इस प्रकार प्रथम परिचय में ही दर्शकों अथवा पाठकों पर विक्रम के स्वभाव व चरित्र के विषय में बड़ा अनुकूल और भव्य प्रभाव पड़ता है।

वह अपनी तथाकथित माँ सरस्वती के प्रति अपार श्रद्धा और आदर भाव रखता है। माँ के हृदय की व्यथा जानना ही नहीं चाहता; उस ज्वाला में भाग लेने को प्रस्तुत है। सरस्वती द्वारा जब विक्रम को अपना वास्तविक परिचय मिलता है तब उसकी आदर्शवादिता नाटककार ने जिस रूप में चित्रित की है वह मनोवैज्ञानिक नहीं है। इतने बड़े रहस्य के उद्घाटन पर भी विक्रम की मनोदशा जटिल नहीं बनती। अपने पिता गर्दभिल्ल दर्पण से परिचित होकर, विक्रम का यह कथन, "यदि मैं वास्तव में ऐसे कामी और कापुरुष का पुत्र हूँ तो मुझे धिक्कार है।" उसको महान् बनाता अवश्य है; पर ग्लानि की भावना की इस प्रकार अभिव्यक्ति मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की द्योतक नहीं है।

विक्रम यद्यपि नवयुवक है; तथापि उसमें विवेक और परिपक्व बुद्धि का अभाव नहीं है। आचार्य कालक और शक-गठबन्धन पर उसकी टिप्पणी संतुलित और युक्तियुक्त है। वह कहता है, "आचार्य कालक पथ से भटक गये यह भी मुझे कहना पड़ता है।....एक राजा की मदांधता का एक नारी पर अत्याचार किसी प्रकार किसी धर्म या सम्प्रदाय पर आघात नहीं था।" आदि उद्गार उसकी संतुलित और तटस्थ आलोचना-दृष्टि के परिचायक हैं। और जब वह भगवान् महाकाल और हर सिद्धि देवी से वरदान माँगता है, "मुझमें प्राणों का मोह कभी उत्पन्न न हो—अत्याचारी के आगे मैं कभी मस्तक न झुकाऊँ—मानवता की सेवा करने में अपना सम्पूर्ण जीवन उत्सर्ग करदूँ।" तो उसका उदात्त और महान् व्यक्तित्व प्रेक्षकों तथा पाठकों को अभिभूत किये बिना नहीं रहता।

विक्रम मात्र तलवार का धनी नहीं है, वह मात्र योद्धा नहीं है; वह कला और साहित्य के सम्बन्ध में भी स्वस्थ व स्पष्ट दृष्टिकोण रखता है। वैसे प्रतीत यह होता है कि विक्रम के मुख से नाटककार बोल रहा है। विक्रम कहता है, "कला का देश के जागरण और

उत्थान में उपयोग होना ही चाहिए। जन-बल को जाग्रत और संगठित करने में कलाकार और साहित्यकार बहुत बड़ा योगदान दे सकते हैं।....कला और साहित्य अमृत भी है, विष भी। प्रतिभा का सदुपयोग इन्हें जीवनप्रद बनाता है और दुरुपयोग जीवन-नाशक। ललित कलाएँ मनुष्य की सद्भावनाओं को जाग्रत करने वाला आनन्द देने के लिए हैं न कि उसे असंयमी और उच्छृंखल बनाने के लिए।" यहाँ विक्रम लेखक के विचारों का प्रतिनिधित्व करता है।

विक्रम के चरित्र में यत्र-तत्र आधुनिकता बोलती दृष्टिगोचर होती है। विक्रम का यह कथन, "राज्य के साथ धर्म का सम्बन्ध जोड़ना ही एक भयानक भूल है।" आधुनिक विचाराधारा का पोषक है। तदुपरान्त वह भारतीय इतिहास से विवरण प्रस्तुत कर, बौद्ध और जैन धर्मों की प्रसार-विधि पर प्रकाश डालकर धर्म और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों पर आधुनिक एवं प्रगतिशील दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। इस प्रकार विक्रम के चरित्र से हमें नये युग का सन्देश भी मिलता है। प्रत्येक ऐतिहासिक नाटककार इस प्रकार आधुनिकता का समावेश कर अपनी कृति को उपादेय और सोद्देश्य बनाने का यत्न करता है। मात्र इतिहास की पुनरावृत्ति साहित्यकार का उद्देश्य नहीं होता।

विक्रम, स्वधीनता संग्राम का एक अविचल सेनानी तथा उत्साह और साहस का ज्वलन्त प्रतीक है। उसकी प्रतिज्ञा जन-जन को उत्तेजित करने और राष्ट्रीय एकता की प्रेरणा देने में पूर्ण समर्थ है; यथा, "मेरा यह दृढ़ निश्चय है कि विदेशियों की दासता से अपने देश को मुक्त करने का यत्न अपने जीवन के अन्तिम श्वास तक मैं करूँगा। मैं आज एक साधनहीन व्यक्ति हूँ—मेरे पास न धन है न सेना फिर भी मुझे स्वतन्त्रता का संग्राम लड़ना है।... हम जननी जन्मभूमि को स्वाधीन करने के लिए अपने जीवन की आहुति देंगे।" फल की इच्छा किये बिना कर्म करने में उसका विश्वास है। आकर और मालव के

प्रत्येक भवन, कुटी, नगर, ग्राम, हाट-बाजार, खेत-खलिहान, नदी, घाट और मन्दिर में वह, भर्तृहरि और अपने अन्य साथियों के सहयोग से समय का संदेश पहुँचाता है। इससे उसकी संगठन योग्यता प्रकट होती है। वह एक कर्मठ और पुरुषार्थी नवयुवक है। भाग्यवाद में उसे तनिक भी विश्वास नहीं। भर्तृहरि से वह स्पष्ट कहता है, "जो कार्य मनुष्य को करना है उसे देवताओं के भरोसे छोड़ना मैं कायरता समझता हूँ, कवि ! देवताओं से हमें प्रेरणा मिल सकती है, हम में आत्म-विश्वास प्राप्त हो सकता है किन्तु अपने भाग्य का निर्माण तो हमें स्वयं ही करना है।" अथवा, ".. मैं अंध विश्वास के अँधेरे में अपने देश को नहीं भटकाना चाहता। मैं तो चाहता हूँ उसे ज्ञान की आँखें प्राप्त हों।" निःसंदेह, 'संवत् प्रवर्त्तन' में चित्रित विक्रम का चरित्र भले ही पूर्ण और वांछित रूप में हमें न मिले; पर जैसा भी वह है, पर्याप्त प्रेरणादायक और समयोचित है।

विक्रम एक कर्त्तव्यनिष्ठ सैनिक है। वह महत्त्वाकांक्षी नहीं है। राज्य-प्राप्ति अथवा अधिकार-प्राप्ति उसके जीवन का उद्देश्य नहीं है। जब उसे विदित होता है कि भर्तृहरि नामक एक पुत्र गर्दभिल्ल दर्पण का और है तो वह तुरन्त घोषणा करता है, "इस प्रदेश के स्वतन्त्र होने पर तुम्हारे ही (भर्तृहरि) मस्तक पर मुकुट रखा जावेगा।" अंत में ऐसा ही होता है। विक्रम की इच्छानुसार ही भर्तृहरि मालव-प्रदेश के प्रथम गणपति बनते हैं। यह सब विक्रम की महानता का द्योतक है। उसका त्याग राज्य, अधिकार और पद लोलुप व्यक्तियों के लिए एक चुनौती है।

विक्रम भाग्यवाद के समान जातिवाद में भी विश्वास नहीं करता। उसकी स्पष्ट धारणा है, "ऊँचे वर्ण में जन्म लेने से कोई उच्च नहीं हो सकता और न निम्न कहाने वाले वर्ण में जन्म लेने से कोई नीच।"

अबलाओं और संकट में पड़े व्यक्तियों की रक्षा करने में वह सदैव तत्पर रहता है। कृषकबाला मलयावती की आर्त्त पुकार सुनकर

अविलम्ब वह उसको बचाने चल पड़ता है। शक दुराचारियों को भगा मलयावती को निरापद करता है। यही नहीं, उसे निराश्रित जान अपने संगठन में सम्मिलित करता है और मालवों के घर-घर जाकर शकों से युद्ध करने के लिए संगठन का कार्य उसे सौंपता है।

विक्रम अन्याय का समर्थन नहीं करता। अपने पिता गर्दभिल्ल दर्पण के द्वारा किये गये अपराधों के लिए लज्जित होता है। आचार्य कालक को अपने पक्ष में मिलाकर राजनैतिक सूझ-बूझ का परिचय देता है। शकों को पराजित करने के लिए पारस्परिक एकता पर बल देता है। धर्म के आधार पर स्वाधीनता का संग्राम लड़ना नहीं चाहता; प्रत्युत भारतीयता और मनुष्यता के नाम पर देश को एक झण्डे के नीचे संगठित करता है। एकतंत्र राज्य का खुला विरोध करता है। देशवासियों को प्रलोभन और प्रमाद से बचने की सलाह देता है। इस प्रकार विक्रम का स्वरूप सर्वत्र आदर्श से परिपूर्ण है। वह धीरोदात्त नायक के सभी गुणों से सम्पन्न है। उसके चरित्र में दुर्बलता के लिए कोई स्थान नहीं। शत्रु-पक्ष के व्यक्ति भी उसकी प्रशंसा करते हैं; उसके शौर्य और प्रभाव से भयभीत हैं। शक सेनापति कहता है, "गर्दभिल्ल दर्पण के पुत्र विक्रमादित्य को सर्व साधारण दैवी पुरुष मानते हैं। उसे (मालव प्रदेश को) विक्रम के समान तेजस्वी नेता प्राप्त हो गया है।"

विक्रम अलौकिक गुणों से सम्पन्न असाधारण व्यक्तित्व का नव-युवक है। जन-साधारण उसे भले ही दैवी पुरुष समझें; पर अन्ततोगत्वा वह मानव है। उसका मानवीय रूप मलयावती के संसर्ग में बड़े आकर्षक आकार में सामने आया है। मलयावती के प्रति उसका प्रेम अत्यधिक स्वाभाविक रूप में प्रकट हुआ है। एक क्षेत्र में कार्य करने वाले युवक-युवती का एक दूसरे के प्रति नैसर्गिक रूप में आकर्षित होना प्रायः देखा जाता है। दूसरे, किसी युवती की यदि कोई युवक प्राण-रक्षा करता है तो वह चाहे कैसा भी व्यक्ति हो युवती का उसके प्रति

अनुराग होना स्वाभाविक होता है; जो आगे चलकर प्रणय-सूत्र में परिणत भी हो जाता है। मलयावती के सम्बन्ध में यह तथ्य भी द्रष्टव्य है। विक्रम जैसे नवयुवक द्वारा अपनी रक्षा पाकर मलयावती का उसके प्रति अनुरक्त होना मनोवैज्ञानिक और सहज है। विक्रम को मलयावती की वाणी में मधुशाला की गंध आती है। वह उसकी वाणी सुनकर नशे में डूब जाता है। नाटक के अंत में विक्रम मौन भाव से मलयावती की माला अंगीकार करता है। यह माला वरमाला का कार्य करती है। मलयावती को विक्रम जीवन-सहचरी के रूप में ग्रहण करता है। विक्रम के हृदय का कोमल और मधुर पक्ष अत्यधिक संयत और परिष्कृत रूप में व्यक्त हुआ है।

विक्रम का चरित्र और भी सबल रेखाओं में अंकित किया जा सकता था; यदि लेखक ने संवत्-प्रवर्त्तन को इतनी प्रधानता न दी होती। वास्तव में संवत्-प्रवर्त्तन की घटना विक्रम से निरपेक्ष नहीं है। विक्रम के चरित्र का उद्घाटन किये बिना संवत्-प्रवर्त्तन की घटना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती। यदि नाटककार का उद्देश्य विक्रम पर नाटक लिखना होता तो विक्रम का व्यक्तित्व सही रूप में हमारे सामने आ सकता था; फिर भले ही बिक्रम के सम्पूर्ण जीवन को नाटक में बाँधा जाता अथवा उसके जीवन के किसी एक पक्ष को। प्रस्तुत नाटक के प्रारम्भ में, विक्रम, सरस्वती के संकेत पर अथवा बहुत कुछ उसके मार्ग-दर्शन पर कार्य रत दिखाया गया है। नाटक में कार्य-व्यापार बहुत कम है; अतः विक्रम की अधिकांश चारित्रिक विशेषताएँ उसके उद्गारों और संवादों के माध्यम से ही भातृहरि प्रकट हुई हैं।

'संवत् प्रवर्त्तन' के भर्तृहरि विक्रमादित्य के छोटे भाई और गर्दभिल्ल दर्पण के शूद्रा दासी के पुत्र हैं। भर्तृहरि दूसरे अंक के पहले दृश्य में सर्वप्रथम हमारे सामने आते हैं—क्षिप्रा तट के एकांत स्थल में एक शिला पर बैठे हुये भोज-पत्र पर कविता लिखते और गुनगुनाते हुए। भर्तृहरि लगभग बीस वर्ष का युवक है। साधारण किन्तु फेनोज्जवल

वस्त्र पहने हुए है। उसका मुख मंडल कांति के साथ सौम्य भावनाओं से युक्त है।

उसके प्रथम गीत से ही उसके ओजस्वी स्वर का परिचय मिलता है—'पंथी पथ में रुक मत जाना, अगर चला है तो चलता चल !' अन्यत्र भी उसके गीत कर्मठ-जीवन की भावनाओं और स्वाधीनता-प्रेम से ओत-प्रोत हैं। यथा—'हम स्वाधीन देश के वासी बंधन नहीं सहेंगे।' अथवा 'देश हुआ स्वाधीन हमारा, खूब खुशी से गाओ रे !'

भर्तृहरि को स्वाभिमान और देशाभिमान सर्वाधिक प्रिय है। विक्रम से हुये प्रथम वार्तालाप में ही उसका स्वाभिमान बोल रहा है, ". . किसी की आज्ञा पर कुछ करना मेरे स्वभाव में नहीं है।" पर, नाटककार की असावधानी के कारण यह स्वाभिमान अनुचित प्रतीत होता है। विक्रम के इस कथन पर, "रुक क्यों गए बंधु, तुम ! तुम्हारे कंठ में माधुर्य के साथ ओज भी है। सुनाओ न अपना गीत" भर्तृहरि का उपर्युक्त उत्तर कुछ शिष्ट प्रतीत नहीं होता। विक्रम ने तो उसके गीत और कंठ की प्रशंसा कर सुनाने का मात्र अनुरोध किया था—आदेश नहीं दिया।

भर्तृहरि अपनी इच्छा का स्वामी है। शकों के निर्भम राज्य में भी रहकर वह निर्भीक है। पराधीनता की पीड़ा को समझता है। आत्म-विश्वास को उसने खो नहीं दिया है। पराधीनता का जुआ उतार फेंकने के लिए वह कटिबद्ध है। उसका स्पष्ट कथन है "मैं शत्रु के गुप्तचरों से डरता नहीं हूँ। मैं तो चाहता हूँ, शत्रु के आतंक का पर्दा फाड़कर मैं अपने कोष से अपने प्रदेश के प्रसुप्त प्राणों को जाग्रत करूँ। आखिर किसी-न-किसी को तो विदेशी साम्राज्य के विरुद्ध आवाज उठानी है। इस आवाज को मुखर करने के लिए कुछ लोगों को तो अपने जीवन की बलि देनी ही होगी। क्यों नहीं सबसे पहला मैं यह सौभाग्य प्राप्त करूँ।"

भर्तृहरि युग कवि है। वह जन-जन की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है। विक्रम और सरस्वती से परिचित होने के बाद सरस्वती के

इस कथन पर "कृपा-पूर्वक हमें अपनी रचना पूरी सुनाओ।" भर्तृहरि कहता है, "अवश्य सुनाऊंगा। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि आखिर कोई तो मेरे उद्‌गार सुनने वाला मिला!" नाटककार, फिर भर्तृहरि को अजीब स्थिति में डाल देता है। विक्रम के अनुरोध पर तो महाशय बिगड़ उठते हैं और कविता नहीं सुनाते; पर सरस्वती के कथन पर उनका उपर्युक्त उत्तर! खेद है, भर्तृहरि के उद्‌गार सुनने के लिए आजतक कोई नहीं आया! भर्तृहरि जो जन-जन की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला कवि है! इसमें भर्तृहरि का दोष है या देश की जनता का। क्या जनता इतनी पतित स्थिति को पहुँच चुकी थी कि देशाभिमान की कविताएँ सुनने में भी उसके प्राण निकलते थे अथवा उसे अपनी स्वाधीनता की चिंता ही नहीं थी? स्पष्ट है यहाँ न भर्तृहरि का दोष है और न जनता का। नाटककार जिसके मुँह से जो कहलवा दे!

भर्तृहरि रात-दिन स्वतंत्रता-संग्राम के स्वप्न देखता रहता है। उसके जीवन की प्रेरक-शक्ति देश की स्वाधीनता का स्वप्न है। वह अपनी आकांक्षाओं के चित्र स्वप्नों में देखता है। वह देश के पराधीन व्यक्तियों की मनोवृत्ति से भली-भाँति परिचित है; क्योंकि वह युग कवि है। हताश व्यक्तियों में नवीन-चेतना का संचार करने के लिए वह अलौकिक चमत्कार का सहारा लेना जरूरी समझता है; भले ही अलौकिक चमत्कार अथवा दैवी प्रेरणा में उसको अधिक विश्वास न हो।

भर्तृहरि राज्य-सिंहासन नहीं चाहता। वह भारत मा का एक पुत्र बनकर ही रहना पसंद करता है। कुछ स्वभाव के कारण और कुछ अपने कुल-वंश के कारण। शूद्र होने के कारण वह मस्तक पर मुकुट धारण नहीं कर सकता। विक्रम से वह कहता है, "... मेरी मा महाराज की दासी, एक शूद्रा थी। और अच्छा ही है मैं ब्राह्मण नहीं हूँ। राजा का पुत्र होते हुए भी राजपुत्र के गौरव और सम्मान से वंचित हूँ।" दूसरे उसका स्वभाव ही कुछ भिन्न है। उसे राज-सत्ता की भूख

बिलकुल नहीं है। वह कहता है, "मुझे काव्य-रचना में जो आनन्द मिलता है वह स्वर्ग सिंहासन पर बैठने से भी नहीं मिल सकता।" इस प्रकार, भर्तृहरि भी एक आदर्श पात्र के रूप में हमारे सामने आते हैं। हमारी श्रद्धा उन्हें मिलती है।

भर्तृहरि, विक्रम के समान सहज क्षमाशील है। आचार्य कालक के प्रति उसका व्यवहार विवेकपूर्ण और मानवोचित है। संदेह को अपने जीवन में स्थान नहीं देता। विक्रम आदि अपने साथियों के साथ मिलकर संगठन-कार्य में तत्पर रहता है। मात्र कविता लिखकर नहीं रह जाता; प्रत्युत राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम में सक्रिय सहयोग भी देता है। दूसरे अंक के अंत में उसके गीत की गूंज बड़ी देर तक रहती है।

पराधीन बनकर जीने से अच्छा है मर जाना।
है स्वीकार देश के हित में हमको प्राण चढ़ाना।

घूम-घूम कर, भर्तृहरि आकर और मालव प्रदेशों के निवासियों को जाग्रत करता है। जनता से उसका सीधा संबध है। वह उसके अपूर्व उत्साह को पढ़ना जानता है।

देश के स्वाधीन होने पर जब विक्रम उसे प्रथम गणपति बनाने का प्रस्ताव रखते हैं तब वह तुरन्त कहता है, "नहीं भैया, नहीं हो सकता। मुझ पर अत्याचार न करो। मुझे सिंहासन पर बैठाकर मुझसे मेरी कविता न छीनो, मुझे फाँसी लगा दो लेकिन मेरे पैरों में प्रभुता और वैभव की बेड़ियाँ मत डालो।" विक्रम, भर्तृहरि के प्रति अपने उद्‌गार इस प्रकार व्यक्त करते हैं, "तुम्हारे जैसे कवि, विद्वान्, उदार हृदय, साथ ही वीर गणपति को पाकर मालववासी धन्य होंगे। जहाँ देश की समृद्धि बढ़ेगी वहीं साहित्य और कला को भी प्रोत्साहन प्राप्त होगा।"

नाटक के अंत में लेखक की असावधानी से पुनः भर्तृहरि की स्थिति अजीब हो उठी है। गणपति का यह कथन, "मालव के गायक-गायिकाएं मेरी एक रचना उपस्थिति करेंगे।" जरा शोभा नहीं देता। यहाँ कार्य-

क्रम का संयोजन ठीक नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त अंतिम गीत में संवत् प्रवर्त्तन का उल्लेख कर देने से सभा की सारी कार्यवाही पूर्व-निश्चित सिद्ध हो जाती है; जिससे विक्रम पक्ष का मान नहीं बढ़ता। गीत की पंक्तियाँ हैं:

हुआ नया संवत् है चालू विजय-ध्वजा फहराओ रे।
देश हुआ स्वाधीन हमारा खूब खुशी से गाओ रे॥

विजयोत्सव के निमित्त भर्तृहरि कविता अवश्य पहले लिख चुके हैं; पर संवत्-प्रवर्त्तन की तत्काल घटने वाली घटना का उस कविता में समावेश असंगति उत्पन्न करता है। नाटककार का भर्तृहरि इतिहास प्रसिद्ध भर्तृहरि से मेल नहीं खाता। 'संवत् प्रवर्त्तन' का भर्तृहरि आधुनिक युग का कोई साधारण तथाकथित राष्ट्रीय कवि प्रतीत होता है—शृङ्गार, नीति और वैराग्य शतकों का रचयिता भर्तृहरि नहीं।

आचार्य कालक

आचार्य कालक जैन साधु हैं। साध्वी सरस्वती उनकी बहन है। 'संवत् प्रवर्त्तन' में आचार्य कालक का वास्तविक प्रवेश दूसरे अंक के दूसरे द्रश्य में होता है—उज्जयिनी में शक-क्षत्रप नहपाण की राजसभा में। प्रस्तुत नाटक में वस्तुतः आचार्य कालक का सम्बन्ध इसी स्थल से माना जाना चाहिए।

वैसे सरस्वती-विक्रम-बेताल वार्तालाप और सरस्वती द्वारा प्रस्तुत नाटक के माध्यम से दर्शक व पाठक आचार्य कालक से पूर्व परिचित हो जाते हैं। इस प्रकार, आचार्य कालक के दो रूप सामने आते हैं। प्रथम रूप यदि विकृति से पूर्ण है तो दूसरा प्रायश्चित-भावना, ग्लानि और सुधरा साधु रूप लिए हुए है।

अपने प्रथम रूप में आचार्य कालक गर्दभिल्ल दर्पण के पानगृह में जैन धर्मा विलंबियों की भीड़ लेकर पहुँचना चाहते हैं। भीड़ क्रुद्ध है। शोरगुल में ये वाक्य सुनाई देते हैं: 'हम अभी महाराज के दर्शन करेंगे।

यह अन्याय नहीं सहा जायगा !' गर्दभिल्ल दर्पण मात्र कालक के प्रवेश की अनुमति देते हैं। आचार्य कालक का प्रथम वाक्य संयत और मर्यादानुकूल है—उनका कथन, "आकरपति की सेवा में कालक एक निवेदन करने आया है।" उसका निवेदन है कि आपने अपने सेवकों द्वारा मेरी भगिनी साध्वी सरस्वती का अपहरण कराकर उसे महल में बन्दी बना लिया है। आचार्य कालक गर्दभिल्ल की भूल बताता है, पाप का प्रायश्चित करने को कहता है, नशे से मुक्त होकर पाप-पुण्य को समझने की राय देता है; क्योंकि वह महावीर का विनम्र अनुगामी है। पर, गर्दभिल्ल दर्पण किसी प्रकार भी नहीं मानता। आचार्य कालक के स्वाभिमान को ठेस लगती है। वह निर्भीक होकर महाराज गर्दभिल्ल दर्पण को ललकारता है—"इन पाप से कलंकित हाथों से मुझे स्पर्श न कर राजा।" अंत में कटु विवाद होता है। कालक महाराज को शाप देता है—"तेरे कुत्सित कार्य से आकर प्रदेश में ऐसी भयानक ज्वाला प्रज्वलित होगी जिसमें तेरा सम्पूर्ण वैभव, राजपाट और सैन्यबल भस्मसात हो जायगा।" उसका आक्रोश विक्षिप्त व्यक्ति की स्थिति को पहुँच जाता है। द्रश्य के अंत में वह बड़बड़ाता हुआ पानगृह से निकल जाता है। महाराज गर्दभिल्ल दर्पण उसे 'पागल' शब्द से सम्बोधित करते हैं। वस्तुतः वह क्रोध के वशीभूत एवं प्रतिहिंसा की ज्वाला से दग्ध, महाराज गर्दभिल्ल दर्पण का विनाश करने की प्रतिज्ञा करता है।

उपर्युक्त घटना के सम्बन्ध में विक्रम का मत आचार्य कालक की दुर्बलता को भलीभाँति स्पष्ट कर देता है, "आचार्य कालक ने भी इसे एक नारी के सम्मान की रक्षा का प्रश्न न रखकर जैन धर्म के अपमान का बनाने का यत्न किया था।...आचार्य कालक पथ से भटक गये।" आचार्य कालक अपमान को सहन नहीं कर सके; ठीक है, पर उनके कार्य विवेक पूर्ण नहीं कहे जा सकते।

सरस्वती द्वारा प्रस्तुत नाटक के द्वितीय द्रश्य में आचार्य कालक

पार्श्वकुल (फ़ारिस) में एक सागकुल (शकों के कबीले) के डेरे में दिखाये गये हैं। जहाँ वे भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व को शकों के सामने रखते हैं, "हम भारतवासी शक्ति को हाथी के समान सौम्य देखना चाहते हैं जिसे देखकर भय नहीं सम्मान जाग्रत हो।···मनुष्य को प्रकृति ने ज्ञान की आँखें दी हैं विवेक दिया है, संयम की शक्ति दी है। वह वन्य पशुओं की भाँति विवेकहीन हिंसा के पथ पर क्यों चले? जियो और जीने दो। दूसरों के दुःख को अपना दुःख समझो, भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए एक-दूसरे का रक्त न बहाओ यही हम भारतीयों की संस्कृति सिखाती है।....उत्तेजित अथवा निराश होने की आवश्यकता नहीं है। समय को देखकर शांतिपूर्वक विचारकर कार्य करना राजनीति का प्रथम नियम है।" आचार्य कालक के चरित्रांकन में नाटककार ने सावधानी से काम नहीं लिया। उसकी कथनी और करनी में स्पष्ट विरोध है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि वह बहुत बड़ा राजनीतिज्ञ था—साधु नहीं। शकों को वह भारत आमंत्रित करता है, उन्हें राजा बनाकर रखने का वचन देता है तथा उनकी हर प्रकार से सहायता करने को प्रस्तुत होता है। अंत में आचार्य कालक की कूटनीति सफल होती है। गर्दभिल्ल दर्पण पर शकों की विजय होती है। आंशिक रूप में आचार्य कालक अपने अपमान का प्रतिशोध ले लेते हैं। पर, यह सौदा उन्हें बड़ा मँहगा पड़ता है। शकों से उन्हें जो अपेक्षा थी; उसका शतांश भी उन्हें नहीं मिला। प्रतिहिंसा की ज्वाला जब शांत होती है तब आचार्य कालक अपनी भूल स्वीकार करते हैं।

'संवत् प्रवर्त्तन' का आचार्य कालक के परिवर्तित रूप से ही संबंध आता है। उसे हम आत्म ग्लानि की ज्वाला में तिल-तिल जलते देखते हैं। पर, उसकी निर्भीकता सर्वत्र उभरकर सामने आई है। शकों को भी वह स्पष्ट कह देता है, "मैंने...जहरीले साँपों को दूध पिलाया।... कालक को मिथ्या भाषण का अभ्यास नहीं है।"

आगे जब उसकी सरस्वती से भेंट होती है तब हम उसे अत्यधिक

हताश स्थिति में पाते हैं। कालक का कथन, "अपनी चिता सजाकर स्वयं जल मरना चाहता हूँ।" उसकी दयनीय स्थिति का परिचायक है। कालक का अन्तर्द्वन्द्व नाटककार ने बड़े विस्तार से चित्रित किया है। उसके परिवर्तित रूप को देखकर दर्शकों की सहानुभूति उसके प्रति आकर्षित हो जाती है। सरस्वती से वह कहता है, "बहन! तुम्हारे प्रति मेरे हृदय में जो अगाध स्नेह था उसीने मुझे उन्मत्त बना दिया था। मैं विक्षिप्त हो गया था।" अपनी भूल को आचार्य कालक स्वीकार करते हैं। विक्रम और भर्तृहरि के प्रयत्नों से आचार्य कालक पुनः प्रतिष्ठित होते हैं और मालवों, तथा व्यवसायी एवं कर्मकार वर्गों के विश्वास पात्र बनते हैं। वही कालक जो शकों को देश पर चढ़ा लाये थे; उनके ही निर्वासन में विक्रम-पक्ष को सक्रिय सहयोग देते हैं। शक उषवदात आचार्य कालक की वास्तविकता का उद्‌घाटन इन शब्दों में करता है, "उन्होंने यह भले ही चाहा हो कि शक भारत में भारतीय बनकर सुख और शांति से रहें लेकिन शक-साम्राज्य की स्थापना हो यह उन्होंने कभी नहीं चाहा।...उस साधु को हम किसी प्रलोभन या भय से नहीं जीत सकते।"

आचार्य कालक के चरित्रांकन में नाटककार ने विशेष रुचि ली है; क्योंकि नाटक का यही एक पात्र सर्वाधिक उलझा हुआ है। कालक के मानसिक संघर्ष को लेखक ने पर्याप्त कौशल से प्रस्तुत किया है। विक्रम और आचार्य कालक का हार्दिक मिलाप दिखाकर श्री० हरिकृष्ण 'प्रेमी' जी ने राष्ट्रीय एकता को बल पहुँचाया है। आचार्य कालक किन परिस्थितियों में विपथ हुए, उनका स्वयं कालक द्वारा निर्देष करवाके, कालक के प्रति हमारी सहानुभूति को जाग्रत कर नाटककार ने अपने हृदय की विशालता और औदार्य का परिचय दिया है।

सरस्वती

सरस्वती 'संवत् प्रवर्त्तन' के नारी पात्रों में ही प्रमुख नहीं है; प्रत्युत सम्पूर्ण नाटक के सभी पात्रों में सर्वाधिक महत्त्व की पात्री है। विक्रम

को विक्रम बनाने में सरस्वती का ही हाथ है। 'संवत् प्रवर्त्तन' की सरस्वती भारतीय इतिहास की गतिविधियों का नियंत्रण और संचालन करने वाली महान् नारी है। मालव-प्रदेश से शकों का उच्छेद करने में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। साध्वी सरस्वती आदर्श भारतीय वीरांगना है।

नाटक का पहला पर्दा खुलते ही सरस्वती मंच पर आती है—थाली में कुछ प्रज्वलित दीपक रखे हुए। यद्यपि शरीर पर कोई आभूषण नहीं है, वस्त्र भी साधारण और श्वेत हैं फिर भी उसके व्यक्तित्व में तेजस्विता और आकर्षण है। सरस्वती लगभग छत्तीस वर्ष की युवती है। उसके प्रारम्भिक वाक्यों से ही यह विदित हो जाता है कि उसके जीवन में दुख की गहरी छाया विद्यमान है। उसके हृदय का अन्तर्द्वन्द्व नाटकीय संवादों में भलीभाँति व्यक्त हुआ है। यथा—"जिसके हाथ में तलवार होती है वह दूसरों के अस्तित्व को भूल ही जाता है।" सरस्वती के अस्तित्व को महाराज गर्दभिल्ल दर्पण भूल गये; क्योंकि उनके पास शक्ति और अधिकार थे; तभी तो उन्होंने अपने सेवकों द्वारा सरस्वती का अपहरण कराया और महल में उसे बन्दी बनाया। सरस्वती के जीवन का रहस्य धीरे-धीरे पाठकों या दर्शकों के सम्मुख खुलता जाता है। भावावेश में वह कहती है, "मैं उन्मादिनी हूँ; किन्तु मेरा उन्माद मेरे प्राणों में अवरुद्ध है। मेरे वक्षस्थल में इतना वाष्प घनीभूत हो गया है कि वह मेरे अस्थि-पिंजर को मानों टुकड़े-टुकड़े कर डालेगा। अठारह वर्ष से मैं इस वाष्प को सम्हाले हुई हूँ।" सरस्वती अपने गत जीवन का जितना सिंहावलोकन करती है; जितना अधिक पिछले जीवन पर विचार करती है, उतना ही प्रखर उसका आन्तरिक संघर्ष हो उठता है। एक स्थल पर वह अपने दुखी जीवन के लिए अपने को ही उत्तरदायी ठहराती है, "कभी-कभी मेरा हृदय मुझसे ही विद्रोह कर उठता है। वह कहता है कि अपराध उनका नहीं मेरे सौन्दर्य का है। नारी-सौन्दर्य के नागपाश में फँसा जाना पुरुष का मनोरंजन है।"

सरस्वती मौलिक रूप में नारी है; उसके हृदय में अपार करुणा भरी हुई है। गर्दभिल्ल दर्पण ने उस पर अत्याचार किया; फिर भी सरस्वती ने मनुष्यता नहीं खोई। उसकी मृत्यु पर उसे खेद होता है। वह कहती है, "शत्रु की मृत्यु पर भी खेद करना मानव धर्म है।" विक्रम को वस्तुस्थिति से अवगत कराती हुई आगे कहती है, "तुम्हारे पिता वैभवपति थे, मुकुटधारी थे, रूप में अश्विनीकुमार थे, बल-विक्रम में अप्रतिम थे और स्वभाव के भी ऐसे बुरे नहीं थे—फिर भी मेरा मन उनका नहीं था। मेरा हृदय उन्हें स्वीकार करने को तैयार न था।" और जब विक्रम महाराज गर्दभिल्ल दर्पण को कामी, दुराचारी, पातकी कहता है तब वह तुरन्त रोकती है, "विक्रम ! महाराज गर्दभिल्ल दर्पण तुम्हारे पिता थे, तुम्हारे मुँह से उनके लिए इस प्रकार के उद्‌गार शोभा नहीं देते।" सरस्वती के हृदय की उदारता सौम्यता और मानवता का बड़ा आकर्षक और मनोरम रूप 'संवत् प्रवर्त्तन' में यत्र-तत्र द्रष्टव्य है। पर अपने सतीत्व की रक्षा के लिए वह लौह से भी कठोर है। किसी की इच्छा के आगे उसने मस्तक नहीं झुकाया। जीवन की विकट और भयानक स्थितियों में वह प्राणों से खेलती रही, बड़ी-से-बड़ी शक्ति से लोहा लेती रही; पर झुकी नहीं किसी भी प्रकार का प्रलोभन उसके सामने कोई मूल्य नहीं रखता। धन और प्रभुता उसके लिए तुच्छ है। वह स्वयं राजकुमारी थी—धारावास के नृपति की कन्या। राजमहलों के सुखों को उसने स्वेच्छा से त्यागा था। वैभव का लोभ उसे तनिक भी आकर्षित नहीं कर सकता था। आचार्य गुणाकर के उपदेशों से प्रभावित होकर उसने त्याग और तपस्या का जीवन अंगीकार किया था। उसे संसार के क्षुद्र भोगों का मोह नहीं था। निःसंदेह सरस्वती की पवित्रता अक्षुण्ण बनी रही। गर्दभिल्ल दर्पण मात्र उसे बंदी बनाने में सफल हुआ। पर अंत में उसका सारा अभिमान पानी हो जाता है। वह सरस्वती से क्षमा माँगता है।

सरस्वती विक्रम का माँ के रूप में पालन-पोषण करती है। वह

विक्रम के माता-पिता के अंतिम वचनों का भी पूर्ण पालन करती है। महारानी का निवेदन था "जब तक विक्रम युवक न हो जावे तब तक उसे यह न अवगत हो कि वह राजपुत्र है। न संसार में किसी और को भी वास्तविकता का पता चलना चाहिए।" महाराज ने अंत में कहा था, "जब विक्रम होश सँभाले तो कहना कि तुम्हें अपने पिता का प्रतिशोध लेना है।" सरस्वती यथासमय विक्रम के समक्ष सारा रहस्य प्रकट कर उसे शक-उच्छेद के लिए तैयार करती है। सरस्वती का चरित्र किसी वीरांगना से कम नहीं है। वह देश की स्वाधीनता मे सक्रिय भाग लेती हैं। घर-घर जाकर स्वतंत्रता-संग्राम का संदेश पहुँचाती है। आदिवासी के छद्म वेश में स्वाधीनता निमित्त लकड़ी के गट्ठर ढोती है। अपने भाई को सत्पथ पर लाकर उसमें आत्म गौरव का भाव जाग्रत करती है। सत्य की विजय में उसका अटल विश्वास है।

नाटककार ने सरस्वती के साथ भी उचित न्याय नहीं किया है। नाटक के प्रारम्भ में उसका रोल सबसे अधिक है। वह बार-बार मंच पर आती है। यत्र-तत्र उसके संवाद बोझिल भी हो गये हैं। पर, दूसरे अंक के तीसरे द्रश्य के बाद उसका एकदम लोप हो जाता है। नाटक के अंतिम द्रश्य में वह मात्र दिखाई देती है। विक्रम पूछता है, "माँ, तुम आज चुप ही रही।" सरस्वती, संक्षेप में इसका उत्तर दे देती है। इतने महत्त्वपूर्ण और सक्रिय पात्र का नाटक के अंतिम भाग मे इस तरह अस्तित्व ही समाप्त-सा कर देने के कारण नाटक के सामूहिक प्रभाव को बड़ी क्षति पहुँची है। पात्रों के कार्य-व्यापार का संतुलन प्रस्तुत नाटक में बिगड़ गया है। दूसरे, सरस्वती यद्यपि ऐतिहासिक पात्र है; पर 'संवत् प्रवर्त्तन' में उसका जिस रूप में चित्रण किया गया है; वह काल्पनिक है विक्रम का उसके द्वारा पालन-पोषण, गर्दभिल्ल दर्पण और महारानी से हुआ उसका वार्तालाप आदि प्रसंग नाटककार की कल्पना की उपज है।

मलयावती

मलयावती दूसरे अंक के तीसरे द्रश्य में सर्व प्रथम हमारे सामने आती है। उज्जयिनी के निकट एक मार्ग पर, उसे अकेली पाकर, कुछ शक-सैनिक उठा ले जाना चाहते थे। इस घटना का उद्घाटन बेताल करता है अन्यथा पाठकों-दर्शकों को तो मात्र किसी स्त्री की आर्त्त पुकार सुनाई देती है—'बचाओ, बचाओ।' इस आर्त्त पुकार को सुनकर विक्रम, भर्तृहरि और बेताल तुरन्त उस स्त्री की रक्षा के निमिन्त्त, तलवारें निकाल कर, उस दिशा में, चल पड़ते हैं और उस आर्त्त नारी की शक-सैनिकों से रक्षा कर उसे सरस्वती के सामने लाते हैं। यहाँ मलयावती अपना परिचय स्वयं देती है। वह एक मालव-कन्या है; कृषक बाला है। अपने खेत पर काम करने जा रही थी; कि मार्ग में उसे शक-सैनिकों से संघर्ष करना पड़ा। अपने घर का परिचय देती हुई मलयावती कहती है कि उसके घर में कोई भी पुरुष जीवित नहीं बचा है। वह यह भी बताती है कि वह आयुधजीवी मालवों कि कन्या है। शस्त्र चलाना जानती है। सरस्वती उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होती है। 'वीरमती' शब्द से उसे संबोधित करती है। मलयावती, जो संसार में अकेली है, विक्रम और सरस्वती के साथ चलने को प्रस्तुत हो जाती है। चूँकि विक्रम आदि ने उसके प्राणों की रक्षा की तथा उनके साथ सरस्वती जैसी साध्वी है, अतः मलयावती का उनके साथ हो लेना अस्वाभाविक नहीं है। उसके प्राण तो अब उसके उद्धार-कर्त्ताओं के हो थे; अन्यथा वीरमती मलयावती शकों से संघर्ष करती हुई मर गई होती इतना ही नहीं, साथ चलने का प्रयोजन भी वह जानना चाहती है। विक्रम उत्तर देता है। "तुम्हें मालवों के घर-घर जाकर शकों से युद्ध करने के लिए संगठन का कार्य करना होगा।" इस प्रकार समान उद्देश्य भी, उसे विक्रम, सरस्वती आदि के साथ चलने की प्रेरणा दता है। मलयावती का प्रथम-परिचय बड़े नाटकीय एवं आकर्षक

रूप में दिया गया है। पर इस द्रश्य से विक्रम मलयावती के पारस्परिक आकर्षण का ज्ञान पाठकों-दर्शकों को नहीं होता। अज्ञात रूप से मलयावती के हृदय में विक्रम के प्रति प्रेम व श्रद्धा का बीज पड़ सकता है, क्योंकि उसने उसके प्राण बचाये थे। वास्तव में विक्रम और मलयावती का प्रेम प्रथम दर्शन का प्रेम नहीं है। वह बहुत कुछ, एक क्षेत्र में कार्य करने वाले व्यक्तियों के, पारस्परिक संबंधों के रूप में विकसित हुआ है। दूसरे, विक्रम की आदर्शवादिता भी इस आकर्षण को सहज ही प्रकट नहीं होने देती।

मलयावती का अन्य परिचय भी नाटककार ने रूपकात्मक ढंग से दिया है। चरित्र-चित्रण की यह प्रणाली सर्वोत्तम समझी जाती है। मलयावती के वहिरंग का वर्णन करता हुआ एक शक सैनिक कहता है "यही कोई अठारह वर्ष की होगी।··· बिल्कुल अप्सरा!" निश्चय ही, मलयावती सुन्दर और आकर्षक बाला है।

तीसरे अंक के दूसरे द्रश्य में विक्रम-मलयावती के पवित्र प्रेम की बड़ी उज्ज्वल झाँकी मिलती है। एक आदर्श भारतीय बाला के समान मलयावती बड़े संयत और परिष्कृत रूप में अपने प्रेम को विक्रम पर प्रकट करती है। एक गुहा में अकेला विक्रम मशालों को प्रज्वलित कर रहा है; कि मलयावती भी उसकी सहायता करने वहाँ आ जाती है। विक्रम के प्रति उसका प्रेम उसके जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है; पर वह अपने कर्त्तव्य पालन में किसी प्रकार की कमी नहीं होने देती। विक्रम के पूछने पर, "कहो मलयावती, तुम अकस्मात् राजधानी से क्यों चली आईं?"—वह उत्तर देती है "इसीलिए कि जिस कार्य के लिए मुझे उज्जयिनी की मधुशाला में मधुबाला बनने का आदेश आपने दिया था वह सम्पन्न हो गया है।" विक्रम उसकी कार्य-तत्परता से अत्यधिक प्रसन्न होता है। मलयावती विक्रम के प्राणों में उन्माद भर देती है। उसे मलयावती की वाणी में मधुशाला की गंध आती है। मलयावती

अत्यधिक भावुक स्त्री है। विक्रम इस भावुकता का कारण जानना चाहता है, "यह रोग तुम मधुशाला से लाई हो या भर्तृहरि की कविताओं से प्राप्त किया है।" मलयावती भावावेश में उत्तर देती है, "इस रोग के कीटाणु तो प्रत्येक मनुष्य के प्राणों में बसते हैं। कुछ काल तक वे अचेत रहें यह दूसरी बात है किन्तु उनके सचेत होने की भी ऋतु आती है जब कोयल बोलती है, फूल खिलते हैं, भौंरे गूँजते हैं।" और इस प्रकार मलयावती-विक्रम का प्रेम पुष्ट होता जाता है। वे एक दूसरे के निकट से निकटतर आते जाते हैं। संभवतः उनका यह प्रेम सरस्वती और भर्तृहरि को भी विदित हो गया होगा। तभी तो सरस्वती से बिना अनुमति लिए भर्तृहरि मलयावती की फूल-माला को वरमाला बना देते हैं। जिसे अन्य सभी लोग सहज मुसकराकर स्वीकार भी करते हैं।

मलयावती केवल तीन बार नाटक में आती है, इसमें संदेह नहीं कि वह प्रस्तुत नाटक की महत्त्वपूर्ण पात्री है तथा विक्रम की पत्नी बनने के कारण नायिका के पद की भी अधिकारिणी है। पर, उसका रोल, उसके महत्त्व को देखते हुए, बहुत थोड़ा है। प्रथम बार कुछ ही क्षणों को वह मंच पर आती है; जहाँ उसका मात्र प्रारम्भिक परिचय विदित हो पाता है। अन्तिम बार उसका प्रवेश केवल विक्रम को फूल माला पहनाने के लिये होता है। वह एक शब्द का भी उच्चार नहीं करती। इस प्रकार, मात्र तीसरे अंक के दूसरे दृश्य में, मलयावती की चारित्रिक रेखाएँ उभरी है और खूब उभरी हैं—नितान्त स्पष्ट और चमकीली। ये रेखाएँ उसके प्रेमिका और देश-सेविका पक्षों को भली-भांति प्रकट कर देती हैं। मलयावती का प्रवेश यद्यपि नाटक में बहुत कम हुआ है, तथापि वह हमारे मन पर अमिट छाप छोड़ जाती है। उसकी भावुकता सरसता और वाग्विदग्धता हमें अभिभूत कर लेती है। मलयावती के चरित्र को और भी प्रभावशाली बनाया जा सकता था। उसके क्रिया-कलापों को यदि नाटक में स्थान दिया जाता तो उसकी सजीवता सर्वा-

धिक मर्मस्पर्शी होती। इस प्रकार, नाटककार ने मलयावती की ओर भी समुचित ध्यान नहीं दिया है। घटना-प्रवाह में उसका व्यक्तित्व अपेक्षा के अनुकूल सामने नहीं आता। नायिका का समावेश, इतने बिलम्ब से, उचित नहीं कहा जा सकता।

अन्य पात्र

गर्दभिल्ल दर्पण

गर्दभिल्ल दर्पण आकर–नरेश तथा विक्रम का पिता है। संवत् प्रवर्त्तक' नामक नाटक में गर्दभिल्ल दर्पण का समावेश नहीं हुआ है। वह सरस्वती द्वारा प्रदर्शित नाटक का पात्र है। 'संवत् प्रवर्त्तक' के प्रथम अंक के दूसरे और छठे दृश्यों में, जो उपर्युक्त सरस्वती वाले नाटक के दृश्य हैं, गर्दभिल्ल दर्पण दिखाई देता है। नाटककार का प्रयोजन गर्दभिल्ल दर्पण का चरित्र-चित्रण करना नहीं है; वरन् पूर्वघटित घटनाओं का मात्र परिचय देना है। गर्दभिल्ल दर्पण की कुछ चारित्रिक विशेषताएँ सरस्वती के संवादों में निहित हैं; तथा कुछ प्रथम अंक के दूसरे और छठे दृश्यों में प्रकट हुई हैं।

सर्व प्रथम गर्दभिल्ल दर्पण उज्जयिनी के राजभवन के पानगृह में अग्रामात्य, सेनापति एवं अन्तरंग साथियों के साथ दिखाई देता है। नर्तकी और मदिरा दोनों उपस्थित हैं। गर्दभिल्ल दर्पण की आयु लगभग पच्चीस वर्ष है। मदिरा और रागरंग में वह मस्त है। वह 'उत्तेजनापूर्ण आनन्द के ज्वार में जीवन को संतरित करना' चाहता है। इसमें उसे किसी प्रकार की लज्जा नहीं है। वह छिपकर कोई कार्य नहीं करना चाहता। उसका कथन है, "गर्दभिल्ल दर्पण किसी की निगाहों से कुछ छुपाना नहीं चाहता है। संसार मुझे नग्न रूप में देखे" आचार्य कालक की बहन साध्वी सरस्वती के अपहरण को वह पाप नहीं मानता। उसे वह नैसर्गिक आकर्षण कहता है और सरस्वती को यौवन प्रवेश की आयु में ही साध्वी बनाने का प्रयत्न धर्मविरुद्ध कार्य ठहराता है।

गर्दभिल्ल दर्पण निरंकुश सम्राट् है। उसे किसी की परवा नहीं। भयभीत होना उसने नहीं सीखा। विद्रोह का उत्तर देना जानता है। वह यदि विलासी है तो दूसरी ओर वीर भी है। आचार्य कालक विदेशी शकों की सहायता लेकर उससे प्रतिशोध लेना चाहते हैं; पर इस आप्रत्याशित संकट से वह तनिक भी नहीं घबराता। अग्रामात्य और सेनापति द्वारा व्यक्त संधि का विचार उसे सह्य नहीं हुआ। दर्पभरी वाणी में वह कहता है" नहीं वे चाहें भी तो मैं संधि नहीं करूंगा। गर्दभिल्लदर्पण चाहे कितना भी नीचे हो वह कायर नहीं है।...मेरी नसों में जब तक एक भी रक्त विंदु है मैं शकों से युद्ध करूंगा।" संकट के समय क्रूरता आवश्यक समझता है तथा राजदंड को किसी भी शर्त पर दुर्बल देखना नहीं चाहता। इस सम्बन्ध में वह किसी से कोई समझौता करने को प्रस्तुत नहीं। अपनी दुर्बलताओं को वह स्वीकार करता है, "मैं आदर्श राजा नहीं हूं।...मेरे कारण देश पर घोर संकट के बादल छा गये हैं।" इस प्रकार गर्दभिल्ल दर्प के चरित्र मे अनेक अच्छाइयाँ भी हैं; जिनको देखकर दर्शक या पाठक के हृदय में उसके प्रति घृणा उत्पन्न नहीं होती; यद्यपि आगे सरस्वती उसके द्वारा किये गये अत्याचारों का वर्णन भी करती है।

अन्त में, सरस्वती द्वारा प्रस्तुत गर्दभिल्ल दर्पण का विवरण दर्शकों-पाठकों की सहानुभूति को उसके प्रति (गर्दभिल्ल दर्पण के) आकर्षित करता है। यथा, "राजा गर्दभिल्ल दर्पण स्वाभिमानी, साहसी और वीर पुरुष थे—एक चतुर सेनापति भी।...उन्होंने वीर गति पाई" और अन्त में सरस्वती के समक्ष जब वे प्रायश्चित करते हैं तब उनका काल्पनिक चित्र दर्शकों-पाठकों को प्रभावित किये बिना नहीं रहता, "सरस्वती मेरा अभिमान पानी हो चुका है।....आज मैं तुमसे क्षमा माँगने आया हूं।"

नाटक के प्रारम्भ में गर्दभिल्ल दर्पण के सम्बन्ध में सरस्वती के

उद्‌गार थे,"'''रूप में अश्विनीकुमार थे, बलविक्रम में अप्रतिम थे और स्वभाव के भी ऐसे बुरे नहीं थे।" शत्रु नहपाण भी उसके वीरत्व की प्रशंसा करता है, "इसमें संदेह नहीं कि गर्दभिल्ल दर्पण एक वीर हृदय यौद्धा था। उसके साथ हमारा जो अन्तिम युद्ध हुआ था उसे याद करके तो मैं आज भी चौंक उठता हूँ।"

इस प्रकार नाटककार ने गर्दभिल्ल दर्पण के प्रति पूर्ण उदारता बरती है। उसके वास्तविक स्वरूप को हमारे सामने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। साहित्यकार की यही विशेषता होती है कि वह इतिहास की घटनाओं के भीतर झाँककर पात्रों के साथ न्याय करता है। उनके हृदय की वास्तविक स्थिति का उद्‌घाटन करता है। यह ऐतिहासिक सत्य भले ही न हो, पर मानव-सत्य जरूर है, इस दृष्टि से प्रेमी जी की कल्पना सार्थक है।

नहपाण

नहपाण प्रस्तुत नाटक का प्रतिनायक है। आचार्य कालक के समान उसके भी दो रूप हमें मिलते हैं, प्रथम रूप का सम्बन्ध सरस्वती द्वारा प्रदर्शित किये गये नाटक से है तथा दूसरे रूप का मूल नाटक 'संवत् प्रवर्त्तन' से।

साहि नहपाण किसी शक कबीले का मुखिया था। उसके राज्य पर मिश्रदात ने अधिकार कर लिया था। यही नहीं, वह उसे मार डालना भी चाहता था। ऐसी स्थिति में नहपाण की आचार्य कालक से भेंट होती है और गर्दभिल्ल दर्पण से प्रतिशोध लेने के उद्देश्य से आचार्य कालक उसे राजा बनाने का प्रलोभन देकर भारत ले आते हैं।

नहपाण निर्भीक और वीर सैनिक है, वह जीना और मरना जानता है। प्रथम परिचय में ही उसकी वह विशेषता प्रकट हुई। मदिरा पीता हुआ वह कहता है, "जीवन का आनन्द लेना तो मनुष्य की प्रवृत्ति है और हम लेंगे लेकिन हम समय के सम्मुख घुटने नहीं टेकेंगे। हमें

शकस्थान में अपने राज्य को पुनः स्थापित करने का यत्न करना है।" एक और स्थल पर, "मनुष्य को एक बार मरना ही पड़ता है—तब क्यों न हम वीरों की मृत्यु प्राप्त करें।" इस प्रकार सरस्वती द्वारा प्रदर्शित नाटक के माध्यम से दर्शक व पाठक नहपाण से पूर्व परिचित हो लेते हैं।

'संवत् प्रवर्त्तन' के वास्तविक नहपाण सर्व प्रथम दूसरे अंक के दूसरे दृश्य में हमारे सामने आते हैं। यहाँ वह उज्जयिनी का शकक्षत्रप है। भव्य सिंहासन पर विराजमान राजसभा में उपस्थित है। यहां पर शासक है। आचार्य कालक के साथ, जिसके कारण वह भारत आ सका तथा उज्जयिनी का राजा बन सका, शक्ति और अधिकार—मद के बशीभूत हो अच्छा व्यवहार नहीं करता। उसकी कृतघ्नता ही 'संवत् प्रवर्त्तन' में सर्व प्रथम दिखाई गई है। वह अपने परिवर्तित रूप में हमारे सामने आता है—क्रूर और उद्दण्ड। दर्प भरे स्वर में कहता है, "एक क्षत्रप अपमान करने वाले पर दया नहीं करेगा।...कालक, आज तुम अपनी मृत्यु साथ लेकर आये हो।" इतना ही नहीं आगे उस पर तलवार से प्रहार करने को भी उद्यत होता है। और दशपुर वाला राजकोष लुट जाने पर," सेनापति इन दस्युओं की तुरन्त खोज की जाए। उनको कुत्तों से नुचवाकर उनकी लाशें नगरकोट के द्वारों पर टँगवा दी जावें।" नहपाण अपने जामाता और अग्रामात्य उषवदात की राय को प्रायः मानता है। अपने शासन को मजबूत बनाने का भरसक प्रयत्न करता है। अपने राज्य की सीमाएँ बढ़ाना चाहता है। राजनीति की चालों को खूब समझता है। उसका आदेश है, "सैनिक अपना व्यवहार शिष्ट बनावें। नागरिकों पर आतंक न फैलावें। मदिरा पीकर नगर में न घूमें। नारियों से सम्मानपूर्वक व्यवहार करें।" क्योंकि, "हमें यहाँ राज्य करना है लूटपाट करके चले नहीं जाना है।" वैसे नहपाण को आतंक में ही अधिक विश्वास है। वह यह भी नहीं चाहता कि जनता पर से उसका आतंक समाप्त हो जाये। अधिक उदारता उसे प्रिय नहीं

है। उसे वह अपनी दुर्बलता का चिह्न समझता है। सदैव चौकन्ना रहता है। राजनैतिक गतिविधियों का सूक्ष्म निरीक्षण कर उपयुक्त निष्कर्ष निकालता है। विक्रम की गुप्त तैयारियों और उसकी बढ़ती हुई शक्ति से परिचित रहता है तथा धैर्य, साहस एवं विश्वास से उसका सामना करता है। अपने अन्य साथियों के मनोबल को अनेक प्रकार से दृढ़ रखने का प्रयत्न करता है। यह सभी गुण उसको एक सुयोग्य सेना-नायक बनाते हैं, वह शक जाति की समस्त चारित्रिक विशेषताएँ अपने में समेटे हुए है। भयानक से भयानक समाचार सुनने के लिये प्रस्तुत रहता है। विषम स्थिति में भी ललकारता है, "अन्तिम क्षण तक वह (नहपाण) विद्रोहियों से लोहा लेगा—संहार का खेल खेलेगा।" अन्त में यद्यपि वह भारतीय वीरता से अभिभूत हो जाता है तथापि आत्म-गौरव की रक्षा करने का संकल्प नहीं त्यागता। एक ओर वह कहता है, "भारत पर राज्य करने का स्वप्न देखना भी मूर्खता थी हमारी।" तो दूसरी ओर, "शक भी आत्मगौरव में कम नहीं हैं। हम युद्ध करेंगे।"

नाटककार ने नहपाण के अन्त के बारे में 'संवत् प्रवर्त्तन' में कुछ नहीं बताया। दूसरे, नहपाण मात्र गर्वोक्तियां ही करता दिखाया गया है। उसके पक्ष को सबल रूप में चित्रित नहीं किया गया। प्रतिनायक की सबलता तथा उसकी यत्र-तत्र आंशिक विजय, नायक के महत्त्व को उभारने के लिये ही बताई जाती है; पर 'संवत् प्रवर्त्तन' में ऐसा कुछ नहीं है।

उषवदात

उषवदात शक क्षत्रप नहपाण का अमात्य और जामाता है। नहपाण को वह अपने नियंत्रण में रखता है। एक अत्यधिक कुशल राजनीतिज्ञ है। आचार्य कालक पर, जब नहपाण तलवार से प्रहार करने को उद्यत होता है तब उषवदात ही उसे रोकता है। नहपाण को एक साधारण कूटनीति की बात समझाता हुआ आगे कहता है, "भारत

में हमारी स्थिति ऐसे है कि हम अपने मित्रों को शत्रु बनाकर लाभ नहीं उठा सकते।" उषवदात जल्दबाजी में कोई भी काम नहीं करता। आचार्य कालक को बंदी बनाये जाने के प्रस्ताव पर सम्मति नहीं देता। षंडयंत्र का सूत्र जानने की विधि उसे ज्ञात है। तभी तो वह आचार्य कालक पर मात्र देखरेख रखी जाना पर्याप्त समझता है। वह कहां जाते हैं, किससे मिलते हैं। इससे उसकी सतर्क दृष्टि और चतुराई का भान होता है। तभी तो नहपाण की उसके प्रति यह धारणा बनी है, "तुम आयु में यद्यपि छोटे हो किन्तु बुद्धि में तुम बड़े बड़ों के कान काटते हो।"

मालवों की गतिविधियों से वह पूर्ण परिचित रहता है। उनके भावी संघर्ष से भी बेखबर नहीं है। साथ ही, अपनी शक्ति को भी पहचानता है। मिथ्या-शक्ति-प्रदर्शन अथवा आत्मप्रशंसा नहीं करता। अग्रामात्य की सभी अपेक्षित योग्यताओं से वह सम्पन्न है। राज्य की सुदृढ़ता का मूलमंत्र वह जानता है। नहपाण को समझाता हुआ कहता है, "पहले हमें अपनी प्रजा का विश्वास प्राप्त करने का यत्न करना चाहिये।...तलवार के जोर पर युद्ध जीते जा सकते हैं—शासन को सुदृढ़ नहीं बनाया जा सकता।" सर्व साधारण के उत्सव त्योहारों में एवं अन्य सामाजिक कार्यों में सम्मिलित होने पर जोर देता है, भारत में भारतीय बनकर रहना उसे पसन्द है। वास्तव में शक-नीति का सूत्रधार उषवदात ही है। नहपाण का सर्वाधिक विश्वासपात्र होने के कारण उसका महत्त्व नहपाण के समान ही प्रस्तुत नाटक में दिखाई देता है।

उषवदात एक सुयोग्य प्रशासक है। शत्रु पक्ष का अग्रामात्य होते हुए भी दर्शकों-पाठकों की घृणा उसे नहीं मिलती। भारत के प्रति उसके अच्छे विचार हैं। शक सैनिकों द्वारा मलयावती को अपमानित किये जाने पर वह स्पष्ट कहता है, "हम ऐसे देश में हैं जो सभ्यता में

संसार में सबसे ऊँचा है। इस देश के वासी नारी के अपमान को कभी नहीं भूलते और समय मिलने पर प्रतिशोध लेते हैं।"

• मालव निवासियों का हृदय जीतने के लिये उसने कई स्तुत्य कार्य किये, तीन लाख गायों का दान किया, वार्णासा नदी पर घाट बनवाये। सुवर्ण का दान किया, मन्दिरों के लिए गाँव दिये, ब्राह्मणों को भोजन कराने के लिए सदाव्रत स्थापित किये, मरुकच्छ, दशपुर, गोवर्धन, और शोषरिग में चतुरशाल, वसुधों प्रतिश्रयों, आरामों, तड़ागों, उद्यानों का निर्माण कराया तथा इवा, पारदा, दमण, तापी, करवेणा, दाहानुका नदियों पर पुष्यतर का प्रबन्ध किया। पर, विक्रमादित्य की बढ़ती हुई लोकप्रियता और शक्ति का सामना वह नहीं कर सका; यद्यपि उसने शकों की भूलों को सुधारने का शक्ति भर यत्न किया। और निःसंदेह, यदि विक्रम-शक्ति का उदय न हुआ होता तो उषवदात की नीति पूर्ण सफल सिद्ध होती।

मालव प्रदेश की जनता को संतुष्ट कर उस पर शासन करने की नीति जब सफल नहीं हो पाती तब उषवदात भी संघर्ष का प्रश्रय लेता है। विक्रमादित्य से युद्ध करने को तत्पर हो उठता है। साहस का त्याग नहीं करता। पर उसकी साहस-भावना अंधी नहीं है। नहपाण को वह सुझाव देता है, "क्षत्रप, स्थिति बहुत गम्भीर है। इन विद्रोहियों का नाश करने की अपेक्षा अपनी रक्षा का यत्न करना चाहिए।" पता नहीं, बाद में उषवदात, नहपाण आदि का क्या हुआ। नाटककार ने नाटक का अन्त करने की शीघ्रता में इस ओर ध्यान ही नहीं दिया।

'संवत् प्रवर्त्तन' के पात्रों का चरित्र-चित्रण पूर्ण और प्रभावशाली नहीं हो सका है। उनका व्यक्तित्व निखर नहीं पाता। वे बातें ही बातें करते हैं। उनमें नाटकीयता का एकदम अभाव है।

'संवत् प्रवर्तन' : अन्य तत्त्व

'संवत् प्रवर्त्तन' के शिथिल वस्तु-विन्यास और अपूर्ण तथा प्रभाव-हीन चरित्र-चित्रण को पर्याप्त विस्तार से देखने के बाद; उसमें पाये जाने वाले नाटक के अन्य तत्त्वों की परख करना भी आवश्यक है। ये तत्त्व हैं—गीत, संवाद, भाषा, देशकाल, अभिनेयत्व, रस एवं उद्देश्य।

गीत

श्री० हरिकृष्ण 'प्रेमी' नाटककार ही नहीं; कवि भी हैं। 'आंखों में' 'जादू गरनी', 'अनन्त के पथ पर', 'अग्नि गान', 'रूप दर्शन' आदि आपके प्रकाशित कविता संग्रह हैं। अतः उनके द्वारा विरचित किसी भी नाटक में यदि गीतों का समावेश हुआ है तो उन गीतों के उच्च-स्तर एवं मार्मिक प्रभाव की अपेक्षा पाठक जरूर करेगा। जहाँ तक 'संवत् प्रवर्त्तन' का सम्बन्ध है; उसका एक पात्र स्वयं इतिहास प्रसिद्ध महान् कवि है—भर्तृहरि! भर्तृहरि जैसे कवि पात्र के मुख में गीतों को स्थान देते समय, 'प्रेमी' जी ने भर्तृहरि के कवि-कर्म पर, संभवतः दृष्टिपात नहीं किया।

'संवत् प्रवर्त्तन' में कुल चार गीतों को स्थान दिया गया है। एक गीत पहले अंक के दूसरे दृश्य में है; जिसका सम्बन्ध सरस्वती द्वारा प्रदर्शित नाटक से है। यह गीत गर्दभिल्ल दर्पण के पानगृह में एक नर्तकी गाती है। शेष तीन गीत 'भर्तृहरि रचित' हैं जिनमें से पहला गीत, 'पंथी पथ में रुक मत जाना' भर्तृहरि अकेला गाकर सुनाता है; दूसरा गीत, 'हम स्वाधीन देश के वासी, बन्धन नहीं सहेंगे!' कोरस में गाया जाता है; जिसका प्रमुख गायक भर्तृहरि है; और तीसरा व अन्तिम गीत, जो नाटक के बिल्कुल अन्त में है, गायक गायिकाओं द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।

आधुनिक नाटककार अपने नाटकों में गीतों का समावेश नहीं करते

उनका वहाँ उद्देश्य नाटक को अधिक से अधिक स्वाभाविक रूप प्रदान करने का होता है। आजकल नाटकों में गीतों की योजना प्राचीन नाट्य-शिल्प की परिचायक मानी जाती है। पर, उपयुक्त स्थल पर नाटक में प्रशंसानुकूल गीत समाविष्ट किये जा सकते हैं; जिससे स्वाभाविकता को कोई आघात नहीं पहुँचे। नाटक में गीतों की संख्या अत्यल्प होनी चाहिए; यह भी जरूरी है; अन्यथा उपयुक्त स्थलों पर प्रसंगानुकूल होते हुए भी गीत नाटक को अस्वाभाविक बना देंगे; क्योंकि जीवन में ऐसा नहीं होता। जहाँ तक 'संवत् प्रवर्त्तन' का सम्बन्ध है, उसमें गीतों की संख्या अधिक नहीं है एवं गीतों का समावेश भी उपयुक्त स्थलों पर तथा प्रसंगानुकूल ही हुआ है। इस दृष्टि से, 'संवत् प्रवर्त्तन' के गीत नाटक के सामूहिक प्रभाव को बढ़ाने में सहायक हुए हैं।

नाटकों में गीत बहुत-कुछ विषय से बंधे रहते हैं। उनमें आत्माभिव्यंजना का वह मुक्त रूप नहीं देखा जा सकता, जो स्वतंत्र गीतों में मिलता है। नाटक में गीतों का समावेश सोद्देश्य होता है; इस कारण उनका कथ्य नाटक की विषय-सामग्री की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर पाता। 'संवत् प्रवर्त्तन' के गीतों के साथ भी यह तथ्य दृष्टव्य है। भर्तृहरि के तीनों गीत राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत हैं। उद्बोधन का स्वर उनमें प्रधान है। अंतिम गीत में मुक्त उल्लास की अभिव्यक्ति हुई जरूर है, पर वहाँ भी नये संवत् के 'चालू' होने की बात आ ही गई है। गीत की अन्य विशेषता उसकी संक्षिप्ति है। 'संवत् प्रवर्त्तन' के गीत लम्बे नहीं हैं। कोई भी गीत तीन पद से अधिक नहीं जाता।

'संवत् प्रवर्त्तन' का प्रथम गीत, 'लाई हूं आँखों में भरकर प्यार, पियो हे प्यारे!' महाराज गर्दभिल्ल दर्पण के विलासी जीवन को गहरा रंग प्रदान करता है। राजाओं के पानगृहों में नर्तकियों का होना साधारण बात है। इस गीत में बंधन, निशिकर, छवि, अगणित उज्ज्वल आदि शब्दों के प्रयोग के साथ प्यारे, होश आदि शब्द कानों को खटकते

हैं। 'प्यारे' शब्द प्रयोग से गीत बहुत निम्नकोटि का हो गया है। गीत के अंतिम पद में 'है' शब्द की आवृत्ति होते हुये भी सौन्दर्य है!

भरी हवा में है मादकता,
आँखों में है प्यार छलकता,
बस में कौन आज रह सकता ?
गीत मिलन के गाते नभ के,
अगणित उज्ज्वल तारे ।

दूसरा गीत, सरस्वती के आग्रह पर कवि भर्तृहरि गाते हैं। गीत इतनी सरल और साधारण शैली में लिखा गया है कि ऐसा प्रतीत होने लगता है कि भर्तृहरि ने यह गीत शायद बच्चों के लिए लिखा होगा।

अगर चला है तो चलता चल,
विपदाओं से तू लड़ता चल,
अंगारों पर पग धरता चल,
सोच नहीं, क्या पावेगा फल।
तुझे कर्म में है सुख पाना।
पंथी पथ में मत रुक जाना।

या फिर; चूँकि 'संवत् प्रवर्त्तन' के भर्तृहरि जन-कवि हैं अतः अशिक्षित जनता को जगाने के लिये उन्हें ऐसी सरल तुक बंदी करनी पड़ी!

तीसरा गीत भर्तृहरि के साथ समवेत स्वर में गाया जाता है। इसके रचयिता का स्पष्ट उल्लेख नहीं है; पर इसमें संदेह नहीं यह प्रयाणगीत भी भर्तृहरि-विरचित है। यह गीत सैनिकों के गाने के लिए उपयुक्त है। रिपु के तप्त रक्त से धरती लाल करने की बात यदि इसमें नहीं आती तो अधिक अच्छा रहता। वैसे यह गीत पर्याप्त उद्बोधक है।

पराधीन बनकर जीने से
अच्छा है मर जाना।

है स्वीकार देश के हित में
हमको प्राण चढ़ाना।

कदम बढ़ाए हैं जो हमने
अब ये नहीं रुकेंगे।
हम स्वाधीन देश के वासी
बंधन नहीं सहेंगे।

अंतिम गीत, 'देश हुआ स्वाधीन हमारा, खूब खुशी से गाओ रे !' नाटक का सर्वोत्तम गीत है। इस गीत में मात्र 'चालू' शब्द का प्रयोग बड़ा भद्दा लगता है। इससे गीत के सौन्दर्य को क्षति पहुंची है। 'चालू' शब्द [illegible] तथा अकाव्यात्मक शब्द है। एक अन्य स्थूल पर 'मुक्त' शब्द के स्थान पर 'मुक्ति' शब्द का प्रयोग मिलता है; देखिये, 'मुक्ति वायु के हिचकोलों में फूल सदृश मुसकाओ रे!' यहाँ प्रूफ की भी भूल हो सकती है। (प्रथम-संस्करण)।

'संवत् प्रवर्त्तन' में भर्तृहरि के गीत ओज से परिपूर्ण हैं, उनमें काव्य के उदात्त गुणों का समावेश नहीं हुआ है—वे सीधे-सरल, प्रांजल, अभिधामूलक गीत हैं। साधारण कोटि के राष्ट्रीय गीत। 'संवत् प्रवर्त्तन' के साहित्यिक स्तर को देखते हुए गीतों का स्वर ठीक ही कहा जायगा; पर इतिहास प्रसिद्ध महाकवि भर्तृहरि की प्रतिष्ठा के अनुकूल वे किंचित् भी नहीं हैं। माना कि 'संवत् प्रवर्त्तन' के लेखक से भर्तृहरि की प्रतिष्ठा के अनुकूल गीत-रचना की अपेक्षा हमें नहीं करनी चाहिए; फिर भी उसे जन-कवि के धरातल पर घसीट लाने से असंगति अवश्य उत्पन्न हुई है।

संवाद

संवाद नाटक का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। नाटक में संवादों के माध्यम से ही कथा का विकास होता है तथा पात्रों की अनेक चारित्रिक विशेषताएँ प्रकट होती है। अतः संवादों के संबंध में नाटककार को

विशेष सतर्क रहना चाहिए। 'संवत् प्रवर्त्तन' के संवादों में यद्यपि अनेक दोष हैं, फिर भी यत्र-तत्र उनका सफल नियोजन हुआ है।

संवादों के द्वारा पूर्व घटित घटनाओं की सूचना दी जाती है; पर इस कौशल का अधिक उपयोग नाटक को नीरस तथा ऊबा देने वाला बना देता है। 'संवत् प्रवर्त्तन' में सूच्य कथोपकथनों की भरमार है। इससे नाटक के कलात्मक सौन्दर्य पर बड़ा प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। लेखक कथानक को सफल नाटकीय आकार नहीं दे पाया है, इसी कारण सूच्य संवादों की आवश्यकता पड़ी है।

'संवत् प्रवर्त्तन' के संवाद अनेक स्थलों पर लम्बे हो गए हैं। गर्दभिल्ल-दर्पण, सरस्वती, विक्रम, आचार्य कालक, नहपाण, उषवदात आदि पात्रों के संवाद आवश्यकता से अधिक बड़े है। दूसरे अंक के पहले दृश्य में भर्तृहरि का एक संवाद तो भाषण ही बन गया है। इसी प्रकार तीसरे अंक के पहले दृश्य में उषवदात का अन्तिम संवाद भी अनपेक्षित विस्तार लिए हुए हैं। नाटककार ने कही-कही लम्बे-लम्बे संवादों को बीच में से तोड़कर उन्हें संक्षिप्त बनाने की असफल कोशिश भी की है। पहले अंक के सातवें दृश्य में सरस्वती का लम्बा कथोपकथन इसी प्रकार तोड़ा गया है। बीच-बीच में कभी बेताल बोल देता है कभी विक्रम; यथा 'किन्तु आर्य-धर्मावलम्बियों पर इसका क्या प्रभाव हुआ ? (वेताल)', 'लाभ ? अत्याचार से भी क्या कोई लाभ हो सकता है।' (विक्रम), 'तब तो भयानक युद्ध हुआ होगा।' (बेताल); आदि। स्पष्ट है, इस चतुराई से सरस्वती के लम्बे-लम्बे कथोपकथनों की नीरसता कम नहीं होती। संवादों में तमाम विवरण ही विवरण भरे पड़े है।

नाटकीय दृष्टि से, तीसरे अंक के दूसरे दृश्य मे, विक्रम—मलयावती के कथोपथन बड़े सुन्दर बन पड़े है। उनमें कथोपथन सम्बन्धी प्रायः सभी गुण विद्यमान हैं। उनकी संक्षिप्ति, भावावेश को प्रकट करने की

सामर्थ्य साहित्यिकता, प्रांजलता, चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन करने की क्षमता आदि सभी दृष्टव्य है। यथा—

विक्रम : मलयावती, नारी की मुसकान का रंग रक्त की भांति लाल होता है।

मलयावती : और पुरुष की मुसकान अंगारों की भांति चमकीली होती है।

अथवा

मलयावती : इसका अर्थ यह हुआ कि जिसके हृदय में जो होता है उसकी छाया उसे विश्व के दर्पण में दिखाई देती है।

विक्रम : इसलिए अच्छा यही है कि हृदय का मन्दिर खाली रखा जाए ताकि उसकी दृष्टि भ्रम में न पड़े।

मलयावती : किन्तु, संसार में कुछ व्यक्ति डाकुओं के समान होते हैं जो बरबस हो कहीं घुस आते है।

विक्रम : ऐसे लुटेरों के लिए द्वार बन्द रखने चाहिए।

मलयावती : किन्तु संसार में आँधियाँ भी उठती हैं जो द्वारों को तोड़ डालती हैं।

विक्रम : मलयावती !

मलयावती : विक्रम !

विक्रम : तुम आँधियों की बात करती हो ?

मलयावती : हाँ !

अथवा

विक्रम : मलयावती तुमसे भय लगता है !

मलयावती : क्यों ?

विक्रम : क्योंकि तुम्हारी वाणी में मधुशाला की गंध आती है। सुनकर नशा-सा आता है।

मलयावती : तब मैं क्या करूं ?

विक्रम : तुम एकांत में मेरे पास न आया करो।

× × × ×

मलयावती : तुम देवता हो, विक्रम ! और मुझे भी तुमसे भय लगता है।

विक्रम : देवता से भय !

मलयावती : क्योंकि, वह पत्थर होता है ! वह प्रार्थनाओं का उत्तर नहीं देता।

'संवत् प्रवर्त्तन' के सर्वोत्तम कथोपकथन इसी प्रसंग से सम्बद्ध हैं। जहाँ तक संवादों की स्वाभाविकता का सम्बन्ध है, प्रस्तुत नाटक से निराशा ही हाथ लगती है। 'संवत् प्रवर्त्तन' के सभी पात्र एक प्रकार से ही बोलते हैं। उनमें वैविध्य का अभाव है। सम्राट् और सैनिक, पुरुष और नारी, विदेशी और भारतीय आचार्य कवि और कृषक-कन्या सभी एक वजन के, एक ढंग के संवादों का प्रयोग करते हैं। श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' जी के कथोपकथनों को लक्ष्य करके आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने [illegible] प्रसंगानुसार, स्वाभाविक आदि उनकी जिन विशेषताओं की प्रशसा की है; वे तत्त्व 'संवत् प्रवर्त्तन' में नहीं मिलते। 'रक्षा बंधन' के रचयिता 'संवत् प्रवर्त्तन' के रचयिता प्रतीत नहीं होते। 'रक्षा-बंधन' का तो एक पूरा दृश्य का दृश्य शेष नाटक से पृथक् दिखाई देता है और 'संवत् प्रवर्त्तन' पूरे 'रक्षा-बन्धन' में पाई जाने वाली विशेषताओं के एकदम विपरीत। दोनों नाटकों में प्रेमी जी की सामान्य विशेषताओं को खोज निकालना कठिन है।

भाषा

'प्रेमी' जी की भाषा सम्बन्धी विशेषताओं पर भी आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में लिखते हैं, "उनमें प्रसंगानुसार बातचीत का चलता स्वाभाविक ढंग भी है और सर्व हृदय ग्राह्य

पद्धति पर भाषा का मर्मव्यंजक अनूठापन भी। प्रसाद जी के नाटकों में एक ही ढंग की चित्रमयी और लच्छेदार बातचीत करने वाले कई पात्र आ जाते हैं। प्रेमी जी के नाटकों में यह खटकने वाली बात नहीं मिलती।" शुक्ल जी ने उपर्युक्त मत 'रक्षा-बन्धन' से प्रभावित होकर व्यक्त किया है और इसमें संदेह नहीं, प्रेमीजी का प्रारम्भिक नाटककार बहुत कुछ इन विशेषताओं से विभूषित है। पर, 'संवत् प्रवर्त्तन' में प्रेमी जी की भाषा बड़ी दूषित है। उसमे अपेक्षित सावधानी नहीं बरती गई है। भाषा के अनेक चित्य प्रयोग 'संवत् प्रवर्त्तन' में मिलते हैं। पात्रानुकूल भाषा का व्यवहार भी नहीं हुआ है। यह प्रस्तुत नाटक का एक बड़ा दोष है।

विक्रम, भर्तृहरि, सरस्वती, आचार्य कालक आदि पात्रों के मुख से उर्दू फारसी के शब्दों का उच्चार कराना असंगत है, इसके अतिरिक्त, ऐसा करने से, भाषा सौष्ठव को भी बड़ी क्षति पहुँची है। एक जागरूक पाठक को, भाषा के ऐसे खिचड़ी रूप को देखकर, हैरानी होती है। साधारण सी सावधानी बरतने पर 'प्रेमी' जी इस दोष से बच सकते थे और अपने नाटक के कलात्मक सौन्दर्य की अभिवृद्धि कर सकते थे। पृष्ठ संख्या के साथ ऐसे कुछ शब्दों के उदाहरण प्रस्तुत हैं:—रिश्तों (७) आए दिन (७) ज़रूरत (७) निगाहों (१४) ज़बान (२१, ४३), ज़रा २२), करारा ज़वाब (३५) कसर (४२), सफाया (४२), इशारा काफ़ी (४३), बर्बाद (४६) बेगैरत (४८), आखिर (५२), ज़हरीले (६१), गुज़ारा (१०४) आदि।

यही नहीं, इसके विपरीत, विदेशी पात्रों के मुख से विशुद्ध संस्कृत-हिन्दी के शब्दों का उच्चार कराया गया है। इस प्रकार 'प्रेमी' जी ने एक अद्भुत-निराला मिश्रण तैयार किया है। भूमक, नहपाण, उषवदात आदि जो विदेशी हैं, शक हैं—'निरापद' (२६), 'चरितार्थ' (३०), 'रिद्ध सिद्धि' (६०) आदि शब्दों को उनके वार्तालाप में स्थान

दिया गया है। भूमक का प्रथम संवाद ही विशुद्ध हिन्दी में प्रस्तुत किया गया है। पार्श्वकुल (फ़ारिस) में एक सागकुल (शकों के कबीले) के डेरे में भूमक इस प्रकार की भाषा बोलता है "बन्धुओं, जीवन का आनन्द लो। भाग्य हम शकों को नित्य ही नये धक्के लगाकर सरिता में बहने वाले पत्थरों की तरह बहाता रहता है; अतः जब दो क्षण विश्राम के उपलब्ध हों उनका पूर्ण उपभोग करो।" (पृष्ठ २५)

'संवत् प्रवर्त्तन' में कुछ अशुद्धियाँ भी रह गई हैं; जिनका संशोधन नितान्त आवश्यक है। यथा, 'आचार्य इसके विपरीत **हिंसा** के पथ पर चलने वाले को हिंसक जंतु खा जावेंगे।' (पृष्ठ २८), तो हमें रक्षात्मक **नहीं युद्ध करना** चाहिए।' (पृष्ठ ३७), 'किन्तु आँधियों को आत्म-समर्पण **करना ही** वीरता है।' (पृष्ठ ६४)। देखिये प्रथम संस्करण।

दूषित और शिथिल वाक्य-विन्यास भी 'संवत् प्रवर्त्तन' में देखे जा सकते हैं। यथा, "क्यों नहीं सबसे पहला मैं यह सौभाग्य प्राप्त करूं ?" (पृष्ठ ५२)। आदि।

'संवत् प्रवर्त्तन' में मुहावरों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। पूरे नाटक में दो-चार मुहावरे मिल जाएँ तो मिल जाएँ। भाषा को आलंकारिक रूप, अवश्य उपयुक्त स्थलों पर, नाटककार ने दिया है। यथा, "जिस दीपक को इस प्रदेश में अठारह वर्ष से आच्छन्न अन्धकार का नाश करना है, उसे मैं अपने आँचल की ओट में छुपाकर न रखती तो आँधियों के प्रचंड वेग उसे कभी का बुझा चुके होते।" (पृष्ठ ५-६) "मेरा नारीत्व राजा के अत्याचार से लड़ रहा था जिस प्रकार सीता अशोक वन में रावण की पैशाचिक प्रवृत्तियों से लड़ी थी।" (पृष्ठ २३) "ग्रीष्म ऋतु में जल के लिए भटकने वाले प्यासे हिरन की भाँति भटकते हुए प्राण देंगे।" (पृष्ठ २५)।

'संवत् प्रवर्त्तन' में सुभाषित या सूक्तियाँ अनेक हैं। अधिकांश पात्र इस शैली में बोलते हैं। कुछ सुभाषित उद्धृत हैं:—

(१) नारी-सौन्दर्य के नागपाश में फँस जाना पुरुष का मनोरंजन है। (पृष्ठ ४)

(२) नारी के अन्तर्जगत् के रहस्यों को समझ पाना ब्रह्मा के बस का भी काम नहीं है। (पृष्ठ ५)

(३) अन्धकार भी कभी-कभी मनुष्य को प्रकाश के आँगन में पहुँचा देता है। (पृष्ठ ७)

(४) मदिरा तो वैभव और प्रभुता की सहेली है। जहाँ वैभव है, प्रभुता है मदिरा भी अतिथि के रूप में आकर गृह-स्वामिनी बन बैठती है। (पृष्ठ ११)

(५) यौवन मानव जीवन का बसंत है। (पृष्ठ १७)

'संवत् प्रवर्त्तन' में 'प्रेमी' जी की भावात्मक शैली सर्वाधिक सफल है। भावावेश की स्थिति में 'प्रेमी' जी के पात्र बड़ी सरल और सुगठित भाषा-शैली का प्रयोग करते हैं। सरस्वती, आचार्य कालक, और मलयावती के सम्भाषणों में इस शैली का निखरा रूप देखा जा सकता है। सरस्वती विक्रम से कहती है, "मैं उन्मादिनी हूं किन्तु मेरा उन्माद मेरे प्राणों में अवरुद्ध है। मेरे वक्षस्थल में इतना वाष्प घनीभूत हो गया है कि वह मेरे अस्थि-पिंजर को मानों टुकड़े-टुकड़े कर डालेगा अठारह वर्ष से मैं इस वाष्प को संभाले हुए हूँ।" (पृष्ठ २-३) अथवा आचार्य कालक क्रोध के आवेश में महाराज गर्दभिल्ल दर्पण से कहते हैं, "मैं जाता हूँ—राजा ! तेरा यह बसंत भी जाएगा। मैं आऊँगा—भयानक ग्रीष्म की भांति प्रचंड तप्त बवंडर के रथ पर बैठकर मैं आऊँगा। तेरा स्वप्नों का नन्दनवन भस्मसात हो जाएगा। मैं जाता हूँ किन्तु एक दिन आऊँगा। जाता हूँ, आऊँगा।" (पृष्ठ १९) आदि।

'संवत् प्रवर्त्तन', वास्तव में भाषा की दृष्टि से कोई विशेषता नहीं रखता। सभी पात्र एक-ही भाषा का प्रयोग करते हैं। वैसे प्रस्तुत नाटक की विषय-सामग्री को देखते हुए लेखक भाषा-वैविध्य प्रस्तुत कर रचना

को अधिक आकर्षक, प्रभावशाली और कलात्मक बना सकता था। 'धर्माविलंबियों', 'लक्ष', 'देवल', 'मसंद' आदि शब्द प्रशुद्ध रूप में लिखे मिलते हैं। विरामादिक चिन्हों की ओर लेखक का ध्यान बिल्कुल भी नहीं रहता। विराम और प्रश्नवाचक चिन्ह अवश्य लगे मिलेंगे। अन्यथा वाक्य-विन्यास में ऐसा दीखता है, 'प्रेमी' जी किसी अन्य विरामादिक चिन्ह की जरूरत ही नहीं समझते। निःसंदेह, भाषा की दृष्टि से 'संवत् प्रवर्तन' साधारण कोटि का नाटक है।

देशकाल

'संवत् प्रवर्त्तन' चूंकि ऐतहासिक नाटक है अतः उसमें 'देशकाल' का तत्त्व महत्वपूर्ण स्थान रखता है। ऐतिहासिक नाटककार 'देशकाल' की उपेक्षा नहीं कर सकता। जहाँ तक प्रस्तुत नाटक का संबंध है; लेखक की कुछ सीमाएँ हैं। विक्रम और विक्रम-कालीन जीवन के बारे में प्रामाणिक सामग्री का अभाव है। 'प्रेमी' जी ने इस दिशा में कोई अनुसंधान भी नहीं किया। जिस प्रकार प्रसाद जी ने अपने नाटकों की भूमिकाओं में शोध-दृष्टि का परिचय दिया है; वैसी बात हम प्रेमी जी में नहीं पाते। प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों को, वे आधार मानकर चल पड़े हैं। वस्तु-विन्यास एवं चरित्रांकन में खुलकर कल्पना का उपयोग किया है। इस प्रकार 'संवत् प्रवर्त्तन' में तत्कालीन युग का चित्रण इतना नहीं हुआ जितना कि प्राचीन घटनाओं के माध्यम से वर्तमान का हुआ है। 'संवत् प्रवर्तन' में हमें आधुनिकता अधिक मिलती है। आधुनिकता अथवा वर्तमान के प्रच्छन्न चित्रण का अपना महत्व है, पर ऐतिहासिक नाटकों में प्रतिपाद्य युग को इच्छानुसार गढ़ा नहीं जा सकता।

भाषा संबंधी दुर्बलताओं एवं त्रुटियों को देखा जा चुका है। देश-काल का संबंध भाषा से अटूट है। नाटककार विभिन्न भाषा-रूपों के

माध्यम से अपनी कृतियों में इस तत्त्व का निर्वाह करते हैं। 'आहार्य-अभिनय' विषयक संकेत 'संवत् प्रवर्त्तन' में नहीं मिलते। वेशभूषा का सामान्य उल्लेख ही कहीं-कहीं मिलता है। नाटककार ने अपनी ओर से, विक्रम-युग की अथवा शक-प्रदेश की विशिष्ट वेशभूषा के संकेत नहीं दिये हैं। देशकाल के अन्तर्गत वेशभूषा का भी स्थान है। नाटककार से इस बात की अपेक्षा की जाती है कि कम-से-कम ऐतिहासिक नाटकों में तो वह अपने पात्रों की वेशभूषा का विस्तृत ब्यौरा दें; अन्यथा सब कुछ नाट्य निर्देशक की योग्यता पर ही निर्भर करता है। 'प्रेमीजी' ने इस ओर परिश्रम करने की जरूरत नहीं समझी। सामान्य वेश-भूषा विन्यास से काम चला लिया है।

'संवत् प्रवर्त्तन' में राजनैतिक और धार्मिक स्थिति का रूप आधुनिक शोध-विवरणों पर आधारित है। शक-आक्रमण का ब्यौरा इतिहास-सम्मत है। धार्मिक क्षेत्र में जैन और ब्राह्मण संघर्ष अर्द्ध-ऐतिहासिक तथ्यों से स्पष्ट है। सरस्वती और मलयावती की भूमिकाएँ तत्कालीन नारी की सामाजिक स्थिति पर विशेष प्रकाश नहीं डालतीं। 'संवत्-प्रवर्त्तन' की प्रमुख समस्या भारत के आधुनिक इतिहास से अत्यधिक निकट का संबंध रखती है। यह समस्या है, देश से—मालव आकर प्रदेश से विदेशी आततताइयों—शकों को निर्वासित कर स्वशासन और सुशासन की स्थापना करना। भारतीय जनता ने जिस प्रकार ब्रिटिश-सत्ता से संघर्ष करके राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त की; उसी प्रकार मालव शकों से संघर्ष करके अपने प्रदेश को स्वतंत्र करते हैं। इस प्रकार, दोनों युगों में उद्देश्य की समानता है। इस कारण, 'संवत् प्रवर्त्तन' का देशकाल विशिष्ट रूप नहीं ले सका है। उसकी विचार धारा पर आधुनिकता छाई हुई है। उषवदात द्वारा किये गये पुण्य-कार्यों के विवरण से प्रतिपाद्य युग की एक हलकीसी झलक अवश्य दृष्टिगोचर होती है। वैसे 'संवत् प्रवर्त्तन' में देशकाल संबंधी कोई त्रुटि या असंगति दिखाई नहीं देती।

अभिनेयत्त्व

नाटक दृश्य-काव्य होता है। उसकी सफलता की सबसे बड़ी कसौटी उसका अभिनय के योग्य होना है। रंगमंच पर प्रदर्शित किये जाने में समर्थ रचना ही नाटक कहलाने की अधिकारिणी है; अन्यथा नाटकीय तत्त्वों से परिपूर्ण होते हुए भी हम, मात्र 'नाटक' शब्द से उसे सम्बोधित नहीं कर सकेंगे। पाठ्य-नाटक या कक्ष-नाटक, रेडियो-रूपक आदि उसके विभिन्न नाम हो सकते हैं।

जहाँ तक 'संवत् प्रवर्त्तन' के अभिनय के योग्य होने का प्रश्न है; उसकी सफलता असंदिग्ध है। पर, किसी नाटक के लिए उसका मात्र अभिनय के योग्य होना ही पर्याप्त नहीं है। उसका अभिनय आकर्षक और प्रभावशाली भी होना चाहिए। यदि नाटक की रचना शिथिल और कलाहीन है तो सुयोग्य अभिनेता-अभिनेत्रियाँ भी उसमें प्राण-प्रतिष्ठा नहीं कर सकतीं। 'संवत् प्रवर्त्तन' की नाट्य-कला फीकी, नीरस और बोझिल है। उसमें सामाजिकों को चमत्कृत करने, उनका आवर्जन करने की क्षमता नहीं है। रंगमंच पर मात्र पात्रों के सम्भाषणों को सुनने प्रेक्षक नहीं आते; वे सजीव कार्य-व्यापार की अपेक्षा भी करते हैं। 'संवत् प्रवर्त्तन' में दृश्य-के-दृश्य वार्तालापों से भरे हुए हैं। सूच्य-संवादों की अधिकता ने उन वार्तालापों को और भी अनाटकीय एवं भारी बना दिया है। सरस्वती, आचार्य कालक और मलयावती के चित्रण में अवश्य एक-दो जगह सात्त्विक अभिनय का सुन्दर रूप दृष्टिगोचर होता है; अन्यथा सभी पात्र भाषण करते हैं।

'संवत् प्रवर्त्तन' के अन्तर्गत एक अन्य संक्षिप्त नाटक की योजना की गई है। यह नाटक, सरस्वती एक विशिष्ट उद्देश्य से, विक्रम और बेताल के सामने प्रस्तुत करती है। स्पष्ट है, इसके दर्शक केवल विक्रम, बेताल और सरस्वती हैं। इस नाटक के अंतिम तीन दृश्य विक्रम की बुद्धिमत्ता से, रंगमंच पर प्रदर्शित नहीं किये जाते। यदि इस नाटक के

दर्शक अन्य व्यक्ति भी रहे होते तो विक्रम का उपर्युक्त प्रस्ताव कोई अर्थ नहीं रखता; क्योंकि शेष वृत्तान्त विक्रम और बेताल तो सरस्वती से जान लेते हैं; अन्य दर्शक किस प्रकार जानते ? नाटक आगे अन्य दर्शकों के सामने चलता रहा; इसका कोई संकेत 'संवत् प्रवर्त्तन' में नहीं है। इस प्रकार के नाटक की योजना का प्रयोजन यद्यपि स्पष्ट है; तथापि इससे अभिनय विषयक कुछ कठिनाइयाँ अवश्य आ उपस्थित होती हैं; जैसे पात्रों के संबंध में सरस्वती द्वारा प्रदर्शित नाटक के कुछ पात्र ऐसे हैं; जो 'संवत् प्रवर्त्तन' के भी पात्र हैं, यथा—आचार्य कालक और नहपाण। सरस्वती द्वारा प्रदर्शित नाटक और 'संवत् प्रवर्त्तन' के समय में एक लम्बा अन्तराल है। मूल नाटक में जब 'वास्तविक' आचार्य कालक और नहपाण प्रवेश करेंगे तब इस अवधि का ध्यान रखना पड़ेगा। उम्र के अनुसार उनके चेहरों की स्थिति में यत् किंचित् परिवर्तन अपेक्षित होगा; दूसरे ये 'वास्तविक' आचार्य कालक और नहपाण वे ही अभिनेता होंगे जो सरस्वती द्वारा प्रदर्शित नाटक में बने होंगे; अन्यथा रसाभास उत्पन्न हो जायगा, उपर्युक्त दोनों पात्रों की चित्रित पूर्व विशेषताओं का तारतम्य भंग हो जायगा एवं प्रेक्षकों को इन पात्रों पर उन विशेषताओं का आरोप करने में कठिनाई पैदा होगी—उनकी मानसिक प्रक्रिया इसके विरुद्ध जायगी। 'प्रेमी जी' ने इस प्रकार के अन्तर्नाटक की योजना करके फिल्मी-टेकनीक अपनाई है।

'संवत् प्रवर्त्तन' में सोलह दृश्य हमारे सामने आते हैं। इन दृश्यों की पृष्ठभूमियाँ नाटकीय, आकर्षक और वैविध्य से परिपूर्ण हैं। यथा—संध्या समय खुले मैदान का दृश्य रात्रि के प्रथम पहर में उज्जयिनी के राजभवन में गर्दभिल्ल दर्पण के पानगृह का दृश्य, रात के समय अभिनय-गृह के बाहर खुले मैदान का दृश्य, रात के समय फ़ारिस में शकों के डेरे का दृश्य, दिन में गर्दभिल्ल दर्पण के राजमहल का दृश्य संध्या समय क्षिप्रा-तट का दृश्य, दिन में उज्जयिनी के शक-क्षत्रप नहपाण की राजसभा का दृश्य, प्रभात में उज्जयिनी के निकट एक मार्ग का दृश्य, उज्जयिनी की

राजवाटिका का दृश्य, रात के समय गुहा का दृश्य नहपाण के राजमहल के उद्यान का दृश्य, आदि। इससे पर्दों की अवश्य कुछ अधिकता हो जाती है; पर आकर्षक अभिनय के लिए ये पृष्ठभूमियाँ अपेक्षित हैं।

'संवत् प्रवर्त्तन' में पात्रों की संख्या उचित कही जा सकती है। अधिकता का तो प्रश्न ही नहीं; जितने पात्र उसमें आये हैं यदि उनके कार्य-कलापों को मंच पर अधिक विस्तार से प्रस्तुत किया जाता तो प्रेक्षकों को उतना ही अधिक तोष होता।

'संवत् प्रवर्त्तन' में गीत, संगीत और नृत्य को उपयुक्त स्थलों पर प्रसंगानुसार स्थान दिया गया है। इससे नाटक के अभिनय-तत्त्व पर अनुकूल प्रभाव पड़ा है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि 'संवत् प्रवर्त्तन' अभिनय की दृष्टि से सफल होते हुए भी अपने कलात्मक-सौन्दर्य में एवं उससे उद्भूत रसानुभूति में एक कमजोर नाटक है।

रस

'संवत् प्रवर्त्तन' में वीर रस की प्रधानता है। दूसरा रस शृंगार है। हास्य-रस की कोई योजना नहीं है।।

सम्पूर्ण नाटक में उत्साह का भाव पाया जाता है। सभी पात्र वीर-रस के आश्रय बनकर उपस्थित हैं। विक्रम-पक्ष, गर्दभिल्ल-पक्ष और शक पक्ष—तीनों पक्षों में उत्साह का आवेग मिलता है। आलम्बन व उद्दीपन की स्थितियाँ प्रत्येक पक्ष के अनुसार अलग-अलग बनेंगी; पर प्रेक्षकों का नायक-पक्ष से ही सम्बन्ध रहेगा। इस दृष्टि से शक-शक्ति आलम्बन बन जाती हैं और उनके अत्याचार उद्दीपन का कार्य करते हैं।

शृंगार-रस के हलके छींटे विक्रम-मलयावती प्रणय-प्रसंग में दिखाई देते हैं। यह संभोग शृंगार उदात्त और पवित्र है।

नाटक का अन्त सुखान्त हुआ है। विक्रम-पक्ष की विजय और विक्रम-मलयावती का प्रणय-सूत्र में आबद्ध होना नाटक को सुखान्त बनाता है।

उद्देश्य

श्री० हरिकृष्ण 'प्रेमी' आदर्शवादी साहित्यकार हैं। उनकी कृतियों में स्वस्थ विचारों और भावों की अभिव्यक्ति हुई है। उनके नाटक आदर्शवादी भावना से ही प्रेरित हैं। 'प्रेमी' जी सोद्देश्य साहित्य-रचना और कला के उपयोगितावादी दृष्टिकोण में विश्वास रखते हैं। इस दृष्टि से उनका दृष्टिकोण प्रगतिशील है। उनके नाटक भारत के राष्ट्रीय और सांस्कृतिक पुनर्जागरण को बल पहुँचाते हैं। आधुनिक स्वस्थ और प्रगतिशील विचारधारा का उनसे पोषण होता है। इस विचारधारा पर गाँधी जी की नैतिकता का पूर्ण प्रभाव है। इस प्रकार 'प्रेमी' जी ने ऐतिहासिक नाटकों के माध्यम से अपने युग का प्रतिनिधित्व किया है।

'संवत् प्रवर्त्तन' भी एक सोद्देश्य रचना है। यद्यपि विक्रम युगीन प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री का अभाव है; तथापि प्रस्तुत नाटक में कल्पना का समावेश अनुश्रुतियों और ऐतिहासिक संभावनाओं के अनुसार हुआ है। अनेक घटनाएँ अनुमानों पर आधृत हैं। जब तक विक्रम-युग के सम्बन्ध में कोई नया ऐसा अनुसंधान नहीं होता जो वर्तमान धारणाओं को बदल दे अथवा उनमें परिवर्तन ला दे तब तक 'संवत् प्रवर्त्तन' काल्पनिक अनुमानाधृत नाटक होते हुए भी ऐतिहासिक तत्त्व से मुक्त नहीं हो सकेगा। यह जरूर है, 'संवत् प्रवर्त्तन' को केवल ऐतिहासिक नाटक कहना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

यही कारण है, 'संवत् प्रवर्त्तन' में लेखक को आधुनिकता का समावेश करने की पूरी स्वतन्त्रता मिल गई है। इस प्रकार, 'संवत् प्रवर्त्तन'

का वहाँ एक मुख्य उद्देश्य विक्रम संवत्, कृत संवत्, और मालव-संवत् की उलझन को दूर करना है; जैसा कि नाटक के नाम करण और लेखक के वक्तव्य से स्पष्ट है—वहाँ दूसरा अन्य मुख्य उद्देश्य विक्रम-युगीन तथा कथित ऐतिहासिकता के आधार पर वर्तमान का चित्रण कर देशवासियों को भावी संभावित अहितकर स्थितियों को न पनपने देने के लिए सचेत करना भी रहा है। इसमें संदेह नहीं इन दोनों उद्देश्यों में नाटककार को पूर्ण सफलता मिली है। 'कृत संवत्' की व्याख्या 'प्रेमी' जी की अपनी नहीं है; जैसा कि अन्यत्र इस सम्बन्ध में लिखा जा चुका है; पर उसको नाटक में स्थान देकर नाटककार ने अपने उद्देश्य की पूर्ति अवश्य की है। आधुनिकता तो सम्पूर्ण नाटक पर छाई हुई है। प्रत्येक पात्र की विचारधारा वर्तमान चिंतन का पोषण करती है। विक्रम; सरस्वती, भर्तृहरि आदि संवाद इसके प्रमाण हैं। नारी—जागरण एवं उसका सम्मान, एकतन्त्र-शासन के विरोध में गणतन्त्र की स्थापना एवं उसका समर्थन, साहित्य और कला पर प्रासंगिक रूप से अभिव्यक्त विचार, विदेशी आक्रमणकारियों से देश की रक्षा का प्रश्न, विभिन्न धर्मों में पारस्परिक सौमनस्य का भाव उत्पन्न करने की भावना आदि सभी का सम्बन्ध वर्तमान युग की समस्याओं से स्पष्ट है।

इस दृष्टि से, 'संवत प्रवर्त्तन' की उपादेयता असंदिग्ध है। जन-साधारण और छोटी कक्षाओं के छात्र-छात्राओं के लिए ऐसी रचनाएँ बड़ी उपयोगी और प्रेरणादायक सिद्ध होंगी। जागरूक पाठक के लिए 'संवत् प्रवर्त्तन' चाहे साधारण कोटि की रचना हो; चाहे उसमें कलात्मक सौन्दर्य की कमी हो; फिर भी चूंकि वह अपने उद्देश्य में महान् है; अतः प्रशंसनीय है। ब्राह्मण और जैन धर्मावलंबियों के संघर्ष की कहानी को 'प्रेमी' जी ने अपने उदात्त हृदय की विशालता से पारस्परिक प्रेम और सौमनस्य की कहानी बना दिया है। इस प्रकार

वर्त्तमान युग की एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति उन्होंने की है। देश की स्वतंत्रता और विभिन्न वर्गों की एकता का स्वर 'संवत् प्रवर्त्तन' में गूँज रहा है। 'संवत् प्रवर्त्तन' 'प्रेमी' जी की अन्य नाट्य-रचनाओं के समान ही महान् और व्यापक आदर्शवादी दृष्टिकोण के कारण सम्मानित होगा; पर उससे 'रक्षा-बंधन' जैसे कलात्मक सौन्दर्य और प्रभाव की आशा करना व्यर्थ है।